मातृ-दर्शन

''भाईजी''

मातृ-दर्शन

"'भाईजी'"

प्रकाशक :
श्री श्री आनन्दमयी संघ
कनखल, हरिद्वार

१०८ वीं जन्मजयन्ती संस्करण
मई, २००४

मूल्य : तीस रुपये

मुद्रक :
वर्द्धमान मुद्रणालय
जवाहरनगर कॉलोनी, वाराणसी

निवेदन

अखण्ड-भाव-घन मातृमूर्ति श्री श्री माँ की तुलना केवल विराट आकाश के साथ ही सम्भव हो सकती है। उनके विराट स्वरूप की वर्णना मनुष्य की शक्ति से परे है। तो भी भावग्राही भक्त उनके अलौकिक भाव-विलास का मधुमय करुण स्मृति-जाल रचना करते हैं—अपने ही प्रयोजन से। मातृ-स्मृति कैसी अमूल्य सम्पद है भावग्राही भक्त ही उसके यथार्थ पारखी हैं।

भक्तों के निकट "मातृदर्शन" ग्रन्थ एक अनमोल सम्पद है। इसके रचयिता भाईजी का विक्षुब्ध जीवन विश्वजननी की असीम स्नेहधारा से किस प्रकार मधुमय, प्राणमय तथा आनन्दमय हो उठा था उसका प्रमाण इस पुस्तक के हर पन्ने में मिलता है। मन्त्रविभूति, भाव-

विभूति, तथा समाधि-भाव आदि अध्यायों में श्री श्री माँ के निर्मल दिव्य जीवन के विविध अलौकिक भावों का प्रकाश मिलता है। ऋषितुल्य भाईजी की लेखनी से परम कल्याणमयी माँ का जो स्वरूप प्रकाश में आया है यथार्थ में ही वह अपूर्व है।

श्री श्री माँ की लोकपावन जीवन-लीला का ऐश्वर्य सबसे पहले भाईजी ही विश्वमानवों के सामने मुक्तकण्ठ से प्रचारित कर गये हैं। परवर्तीकाल में अनेकों ने श्री श्री माँ की जीवनकथा लिखने का प्रयास किया है, अभी भी कर रहे हैं और भविष्य में भी करेंगे। तथापि भाई जी के द्वारा लिखित "मातृदर्शन" अनन्तकाल तक श्री श्री माँ के भक्तों के हृदय में एक विशिष्ट स्थान अधिकार किये रहेगा उसके सर्वश्रेष्ठ साक्षी हमारे अगणित पाठक वृन्द ही हैं।

—प्रकाशक

भूमिका

जब श्री श्री माँ और पिता जी के साथ भाई जी कैलास मानसरोवर परिक्रमा को गये तो 'मातृ-दर्शन' की पाण्डुलिपि प्रकाशन के लिए श्री गंगाचरण दासगुप्त जी को दे गये थे। कैलास से लौटते हुए १९३७ ई० सौर भाद्र झूलन द्वादशी को अलमोड़े में माँ की सन्निधि में भाईजी की जीवनलीला समाप्त हुई। तिरोधान के कुछ दिन बाद ही श्री दासगुप्तजी के प्रयत्न से मातृ-दर्शन प्रकाशित हुआ।

भाई जी का पूर्व नाम ज्योतिषचन्द्र राय और उनके पिता का नाम गोविन्दचन्द्रराय था, वे ऋषि-तुल्य व्यक्ति थे। १८८० ई० सौर श्रावण शुक्रवार शुक्ल दशमी को भाई जी का जन्म हुआ था। चटगाँव के कुलीन वैद्यवंश में भाई जी का जन्म और शिक्षा-दीक्षा हुई। उनका जीवन आरम्भ से अन्त तक सुन्दर सरल और पवित्र था। अन्त में माँ के श्रीचरणोंमें सर्वस्व समर्पित करके संन्यास दीक्षा ग्रहण की तथा मौनानन्द पर्वत के नाम से परिचित हुए।

अल्मोड़े में, उनके देहान्त के कुछ क्षण पहले का वर्णन पिताजी भोलानाथ के शब्दों में ही लिखता हूँ—

"आखिर तक ज्योतिष का सम्पूर्ण ज्ञान था। इहलीला समाप्ति के थोड़े समय पूर्व मुझसे कहा—"बाबा ! देखिये, इस संसार में कोई किसी का नहीं है। केवल एकमात्र माँ ही सत्य

हैं।" उसके बाद "माँ" "माँ" कहकर प्रणव का उच्चारण किया। हरिराम को बुलाकर कहा "सुनो—We are all one। माँ, मैं एक हूँ, बाबा, मैं एक हूँ" उसके बाद तुम्हारी माँ की ओर देख "माँ" "माँ" कहते हुए जीवनलीला समाप्त की।।"[१]

एकनिष्ठ भक्त के कल्याण के लिए हमारी भक्तजननी जगदम्बा का असीम वात्सल्य किस तरहं बरसता है, इसका उज्ज्वल निदर्शन भाईजी की अन्तःलीला सें मिलता है, ऐसा सुन्दर दृष्टान्त हमारे स्मृतिपट पर अनन्तकाल तक रहेगा।

भाईजी ने ज्ञान, भक्ति और साधन में अपूर्व प्रतिष्ठा प्राप्त की तथा जिस प्रकार उन्होंने माँ की पतित-पावनी विभूति का जगत् को दर्शन कराया उसकी स्मृति श्री श्री माँ के भक्तों के हृदय में हमेशा रहेगी।

प्रकाशक

---

१. भाई जी के देहान्त पर बाबा भोलानाथ ने जो पत्र श्री गंगाचरण दासगुप्तजी को ८.९.३७ तारीख को लिखा था, उसी में से उद्धृत किया गया है।

विषय-सूची

ॐ भवतापविनाशिन्या आनन्दघनमूर्त्तये ।
ज्ञानभक्ति प्रदायिन्यै मातस्तुभ्यं नमोनमः ।।

—"भाईजी"

मातृ-दर्शन

श्री श्री माता जी का जीवन-चरित्र लिखना अथवा लोगों को आकर्षित करने के लिये उनकी अनिर्वचनीय शक्ति का परिचय कराना इस पुस्तक का उद्देश्य नहीं है। मेरे निर्जीव मन में कैसे उन्होंने प्राणों का सञ्चार किया इस विषय से सम्बन्धित कुछ घटनाओं का उल्लेख मात्र इस पुस्तक में है। जो मैंने स्वयम् देखा और अनुभव किया वही प्रसंग इस पुस्तक में है। यदि इन प्रसंगो में मेरी अयोग्यता के कारण कुछ भाषा और वर्णन में त्रुटि तथा अस्पष्टता रह गयी हो तो उसके लिये मैं माँ के चरणों में बार-बार क्षमा प्रार्थना करता हूँ।

बचपन ही में मैं मातृहीन हो गया था। सुना है कि तब किसी की 'माँ' पुकार मात्र सुनकर मेरी आँखो में पानी भर आता और मैं कमरे के फर्श पर छाती रख कर हृदय की ज्वाला शान्त करता। मेरे स्वर्गीय पिता एक ऋषितुल्य पुरुष थे। उनके प्रगाढ़ धर्मानुराग के प्रभाव से बचपन ही से सद्भावना के बीज मेरे हृदय में जम गये थे। १९०८ ई० में कुलगुरु की कृपा से मैं शक्तिमंत्र में दीक्षित हुआ। फलस्वरूप 'माँ'-'माँ' पुकार से शान्ति बोध करने पर भी 'माँ ही प्राणीमात्र की सर्वस्व हैं'- इस सत्य का बोध नहीं हुआ। सदा यह आकांक्षा बनी रहती थी, कि एक ऐसी सजीव मूर्तिमयी माँ का दर्शन करूँ जिसकी गम्भीर दृष्टि से यह दुःखी हृदय स्वयं ही बदल जाये। साधु-सन्तों का तो कहना ही

क्या यदि कोई ज्योतिषी भी मिलता तो उससे झट पूछ बैठता कि 'यह सौभाग्य क्या मुझे प्राप्त होगा ?' कोई भी मुझे निराश नहीं करता था।

इसी उपलक्ष्य में अनेक तीर्थों में भी परिभ्रमण किया, अनेक महात्माओं के दर्शनों का सौभाग्य भी हुआ किन्तु किसी ने भी इस दीन को आकर्षित नहीं किया।

१९१८ ई० में बंगाल के 'ढाका' शहर में मैं नौकरी के सिलसिले में आया। सन् १९२४ के अन्तिम भाग में सुना कि शहर के निकट शाहबाग के बगीचे में एक माता जी ठहरी हैं। बहुत दिनों से मौन हैं फिर भी कभी योगासन में बैठकर मन्त्रोच्चारण करते हुए कुण्डली भर कर बातचीत कर लेंती हैं। एकदिन प्रातःकाल जिसे मैं सुप्रभात ही कहूँगा, अपनी व्याकुल प्रार्थना मन में लेकर शाहबाग गया और बाबा भोलानाथ के सौजन्य से माँ के श्री चरणों के दर्शन भी प्राप्त हुए। उनकी शान्त योगावस्था तथा कुलवधू सा भाव, इन दोनों का सुन्दर सामञ्जस्य देख मैं आश्चर्य में पड़ गया। और यह भी देखा कि जिनकी प्रतीक्षा में इतने दिनों से बैठा हूँ, जिनकी खोज में देश-विदेश घूमा वही आज मेरे सम्मुख हैं। मेरे मन और प्राण आनन्द से भर उठे, शरीर रोमाञ्चित होने लगा। इच्छा हुई कि चरणों में गिर पड़ूँ और रोकर कहूँ 'माँ इतने दिन दूर क्यों रखा ?'

कुछ देर बाद मैंने माँ से पूछा 'मेरी पारमार्थिक उन्नति की कोई आशा है ?' माँ ने कहा 'भूख तो अभी नहीं लगी है'। मैं सोचकर आया था कि कितनी ही बातें करूँगा और सुनूँगा किन्तु न मालूम किस अपूर्व कृपानुभूति से मूक एवं मंत्रमुग्ध-सा हो

गया । देखा कि माता जी भी मौन हैं । थोड़ी ही देर बाद हार्दिक श्रद्धा से प्रणाम कर मैंने विदा ली । चरण छूने की प्रबल इच्छा होने पर भी छू न सका । भय अथवा किसी आशङ्का से नहीं अपितु एक अव्यक्त आवेग की प्रबलता से माँ के पास से चला आया । शाहबाग फिर नहीं गया । मैंने सोचा जब तक वे अपना घूँघट हटा माँ के समान नहीं खींच लेंगी तब तक उनके चरणों को किस प्रकार हृदय में धारण करूँगा । एक ओर तो यह अभिमान, दूसरी ओर दर्शन के लिये व्याकुलता, इन दोनों का द्वन्द्व मेरे अन्दर चलने लगा । इस बीच में शाहबाग के निकटवर्ती सिक्खों के अखाड़े की बीच की दीवार की ओट से, माता जी के दो दिन दर्शन उनके अज्ञात में ही किये । मन की ऐसी अद्भुत गति, सोचता कि यह क्या होता जा रहा है, किन्तु हिताहित समझने का सामर्थ्य नहीं थी । माँ की सदा खबर रखता और बीच बीच में उनकी लीला के अनेक प्रकार के प्रसङ्ग सुन लेता । इस प्रकार दैनिक कामधाम के चलते सात महीने कट गये । तदनन्तर एक दिन मैं माँ को अपने घर लिवा आया । बहुत दिनों के बाद उन्हें अपने समीप देख खूब आनन्द हुआ किन्तु वह स्थायी न हो सका । विदा के समय माँ के चरण छूते ही उन्होंने झट से चरण हटा लिये । मुझे बड़ी व्यथा हुई ।

इधर कई महीनों से अनेक शास्त्रों की आलोचना द्वारा मन को स्थिर करने की चेष्टा भी कर रहा था । सहसा मन में आया कि धर्म और सदाचार के विषय में कुछ लिखकर छपवाऊँ । शीघ्र ही 'साधना' नाम की एक पुस्तक तैयार हो गयी और उसकी एक प्रति भूपेन्द्रनारायण दासगुप्त द्वारा माँ के श्री चरणों में भेज दी । माँ ने

कहा—'पुस्तक के रचयिता को यहाँ आने के लिये कहना।' माँ के आह्वान से प्रसन्न हो एक दिन सुबह शाहबाग जा पहुँचा। वहाँ जाकर सुना कि माँ का तीन वर्ष मौन पूर्ण हो चुका है। वे आकर मेरे अत्यन्त निकट बैठ गयीं। पुस्तक को आदि से अन्त तक सुनकर बोलीं—'यद्यपि मौनावस्था के बाद अभी मेरा स्वर नहीं खुला है किन्तु आज स्वतः बात निकल रही है। 'पुस्तक सुन्दर हुई है। शुद्ध भाव की वृद्धि की चेष्टा करना।'

उस दिन माताजी का पवित्र सान्निध्य पाकर एक नवीन ही चित्र बाहर-भीतर खिल उठा, बाबा भोला नाथ भी वहाँ पर उपस्थित थे। मुझे ऐसा लगा मानो अपने माता-पिता के सामने बच्चों की भाँति बैठा हूँ। उत्साह और आनन्द से विदा ले मैं घर लौट आया।

इसके बाद ही से शाहबाग आना-जाना मैंने आरम्भ कर दिया। एकदिन मैंने अपनी पत्नी से कहा कि तुम भी कुछ द्रव्यादि लेकर माँ के दर्शन कर आओ। उन दिनों माँ नाक में लौंग भी पहनती थीं। पाँच-सात दिन बाद ही मेरी पत्नी ने हीरे की लौंग, चाँदी की थाली, दही, फूल आदि सामग्री माँ के चरणों में अर्पण करने का सौभाग्य प्राप्त किया। बाद में मालूम हुआ कि माता जी इधर कई महीनों से जमीन पर ही भोजन रखकर खाने लगी थीं तब पिता जी ने विरक्ति से कहा था "पीतल की थाली में नहीं खाओगी,—काँसे की थाली में नहीं खाओगी फिर क्या चाँदी की थाली में खाओगी ?" माँ ने हँसते-हँसते कहा था, 'मैं चाँदी की थाली में ही खाऊँगी; किन्तु तीन महीने तक इसके सम्बन्ध में किसी से कह भी नहीं सकोगे और स्वयम् भी चाँदी की थाली का

बन्दोबस्त मत करना' । वास्तव में तीन महीने बीतने के पहले ही चाँदी की थाली माँ के दरबार में उपस्थित हो गयी ।

एक दिन माँ ने मुझसे कहा, 'तुम सदा यह स्मरण रखना कि तुम वास्तविक ब्राह्मण हो, तुम्हारे साथ भगवद्भावरूपी अतीव सूक्ष्म सूत्र से इस शरीर का अविच्छिन्न योग रहा है।' उस दिन से मैं सब प्रकार से अपने को सदाचार में सुसंयत रखने की चेष्टा करने लगा ।

मैं बहुतों को यह कहते सुनता था कि उन लोगों को स्वप्न में अथवा प्रत्यक्ष माताजी की अनेक अलौकिक मूर्तियों के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है । माताजी की साधारण मूर्ति में ही महती शक्ति का अभूतपूर्व विकास मुझे दृष्टिगत हो चुका था । अतएव कुछ असाधारण मूर्ति देखने की विशेष उत्कण्ठा नहीं हुई । विचार आया यदि उनके व्यावहारिक धैर्य और शान्ति के आदर्श में ही अपने को गठित कर सकूँ तो यही मेरे लिए बहुत है । किन्तु जड़ता का संस्कार मुझे अधीर कर इधर-उधर भटकाता रहा । इसीलिये एक दिन माँ को एकान्त में पाकर मैने जिज्ञासा की—'माँ सचमुच आप कौन हैं, बतलाइये न ?' माँ ने हँसते-हँसते कहा—"बालकों की तरह यह प्रश्न कैसे उठा ? जीवों को अपने संस्कार के अनुसार देवी-देवताओं के दर्शन होते हैं । मैं पहले जो थी, आज भी वही हूँ, आगे भी वही रहूँगी । तुम जिस समय जो कहो, जो सोचो वही मैं हूँ । फिर भी इस सत्य को जानना कि इस शरीर का जन्म प्रारब्ध-भोग के लिये नहीं हुआ है, तुम यही समझना कि यह शरीर भावों का मूर्तिमान स्वरूप है,

तुमने इसकी अभिलाषा की और इसलिये पाया अथवा तुमने चाहा इसलिये पाया भी। अब इसके साथ समयानुसार लीला करते चलो और अधिक जानकर क्या होगा"। मैंने कहा, "माँ इस कथन से तो सन्तोष हुआ नहीं !" यह सुन "और क्या जानना चाहता है, बोल, बोल" कहते ही उनके मुख और नेत्रों में एक दैवी भाव दिखाई दिया। मैं भय और विस्मय से चुप हो गया।

पन्द्रह दिन बाद बहुत तड़के शाहबाग जाकर मैंने देखा कि माँ के शयनगृह का दरवाजा बन्द है। मैं दरवाजे के ठीक सामने ५०,६० हाथ की दूरी पर बैठा था कि सहसा दरवाजा खुल गया। देखता हूँ कि बाल-अरुणवर्ण वाली सौन्दर्यशालिनी द्विभुजा सौम्य देवीमूर्ति कमरे को आलोकित कर खड़ी है। आँख की पलक भी न गिरने पायी कि फिर ठीक उसी स्थान पर मैंने माँ को देखा, मैं समझ गया कि माँ ने पूर्वोक्त अपनी दैवी प्रतिभा अपने शरीर ही में संवरण कर ली।

एक पल में जादूगर का खेल सा हो गया। मानों किसी स्वप्नराज्य से लौट कर आया। तभी मन में यह विचार आया कि मेरे उस दिन के प्रश्न के उत्तर स्वरूप माँ ने आज मुझे दिखा दिया है कि मैं 'कौन हूँ।' मैं एक स्तोत्र को दुहराता हुआ प्रार्थना करने लगा कि इस शुभ मुहूर्त में सन्तान की तरह माँ का आशीर्वाद और कृपा प्राप्त कर धन्य हो सकूँ ! कुछ देर बाद माँ ने मेरी ओर आते हुए एक फूल और दूब के हरे तिनके हाथ में लिये और प्रणाम करते समय उन्होंने वह सब मेरे सिर पर रख दिये।[१]

---

१. वह अभी भी यत्न से सुरक्षित है।

मैं आत्मविभोर हो माँ के श्रीचरणों पर अश्रुधारा बहाता हुआ गिर पड़ा। जो दिन जाता है वह फिर लौटता नहीं, किन्तु आग्रह यही रहता है कि वह फिर आये।

तब से मेरे मन में यह बात समा गयी कि ये केवल मेरी ही माँ नहीं वरन् संसार की माँ हैं। फिर मैं घर लौट आया। मन तनिक एकाग्र होते ही माँ की मुखच्छवि आँखों में उतर आती और झर-झर अश्रुपात होने लगता। उस दिन की भावविभोरता ने मेरे हृदय में ऐसा प्रभाव डाला कि वे अपनी इस मनुष्य-देह से ही मेरी अठारह वर्षों की नित्य ध्येया चतुर्भुज मूर्ति के स्थान पर अधिकार कर अनायास ही आ बैठीं। इस प्रकार के परिवर्तन के कारण उपासना के समय पूर्व संस्कार के प्रबल होनेपर कभी-कभी भयभीत हो सोचता कि मैं क्या कर रहा हूँ। किन्तु थोड़े ही दिनों में माँ मेरे चित्त में दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठित हो गयीं।

श्री श्री माता जी की जन्मपत्री

सु० शु० १
११
२ बु०
१२
१० मं० रा०
३
९ चं०
बृ० ४
६
८
५ के०
७ श०

खेओड़ा और सुलतानपुर में ही माँ के बाल्यकाल के थोड़े बहुत लीला-खेल अलक्ष्य रूप चलते रहे। विवाह के बाद

माताजी कुछ समय तक अपने जेठ के कर्मस्थल श्रीपुर और नरुन्दि तथा ससुराल आटपडा ग्राम में रहीं। उसके पश्चात् ढाका आने के पहले ३ वर्ष विद्याकूट (नैहर) तथा ५-६ वर्ष पिताजी के कर्मस्थान बाजितपुर में बिताये। तदुपरान्त वे ढाका आयीं।

अष्टग्राम में ही विशेष रूप से कीर्तन का भाव प्रथम प्रकाशित हुआ। बाजितपुर में भी कभी-कभी उक्त भाव देखा गया था। बाजितपुर में मन्त्र और योग-क्रियाओं का प्रकृत

श्री श्री माँ आनन्दमयी (जन्म नाम श्रीमती निर्मला देवी) १८१८ शक (बंगला १३०३ सन्, १९ वैशाख) १८९६ ई० ३० अप्रैल बृहस्पतिवार रात्रि तीन दण्ड शेष रहते त्रिपुरा जिला के अन्तर्गत खेओड़ा ग्राम में मनुष्य-देह में अवतीर्ण हुईं। श्री श्री माँ ने जिस स्थान में जन्म लिया था, वह कालक्रम से लुप्त होने को था कि ३ ज्येष्ठ १३४४ बंगला संवत्सर (१७ मई १९३७ ई०) में जब माता जी खेओड़ा गयीं तब भक्तों के अनुरोध पर उन्होंने जिस स्थान पर जन्म ग्रहण किया था उसे स्वयं ही बतला दिया। उनके पिता श्री विपिनविहारी भट्टाचार्य उसी जिले के विद्याकूट ग्राम के प्रसिद्ध काश्यप वंश के वंशधर थे। उन्होंने अपना प्रारम्भिक जीवन ननिहाल में ही बिताया था। श्री श्री माता जी के पिता और माता श्रीमती मोक्षदा सुन्दरी देवी दोनों ही का स्वभाव मधुर था। उनको यदि धर्मनिष्ठा, सदाचार और सरलता का आदर्श कहा जाये तो भी अनुचित न होगा। माताजी के ननिहाल का वंश भी अति प्राचीन तथा सम्भ्रांत था। इस परिवार में कई एक पण्डित तथा साधक भी हो गये थे, एवं एक धर्मपरायण कुलवधू ने आनन्द के साथ हरिस्म्मरण करते हुए मृत पति के साथ जलती चिता पर आरोहण भी किया था। माताजी के पिता के ननिहाल में भी एक सती हुई थी ऐसी भी एक किंवदन्ती है। ढाका जिले के विक्रमपुरस्थ आटपाड़ा ग्राम के श्रीयुत रमणीमोहन चक्रवर्ती के साथ १२ वर्ष १० महीनेकी उमर में माताजी का विवाह हुआ। वे भी उस ग्राम के प्रसिद्ध भरद्वाज वंश के वंशधर थे। दूसरों की मङ्गलकामना करना ही उनका एकमात्र व्रत था। वे 'भोलानाथ' एवं पश्चिम देश में 'रमा पागल' के नाम से प्रसिद्ध थे।

स्फुरण हुआ। बाद में शाहबाग आने पर मौनावस्था के साथ-साथ जीवन में एक महान् शान्त भाव का प्रकाश देखा गया। इसका भाषाद्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता। कितनी ही आध्यात्मिक वाणियाँ और दिव्य भाव की लीलायें इस समय प्रगट हुईं।

तभी से अनेकानेक भक्तों का समागम होने लगा। सभी पूजा, कीर्तन और यज्ञ आदि में सहयोग देकर कृतार्थ हुए। इस समय भक्तों के हृदय में कितने शान्त भाव का संचार हुआ वह कहा नहीं जा सकता। तब से ही सभी माँ को "शाहबाग की माँ" कहते और कभी आवेग के साथ कहते कि माँ का ऐसा ऐश्वर्य और कहीं नहीं दीखेगा।

बाजितपुर रहते समय ढाका में स्थित सिद्धेश्वरी कालीमन्दिर का चित्र माँ के नेत्रों में उद्भासित हो उठा और ढाका आकर माँ ने सिद्धेश्वरी के आसन का पुनरुद्धार किया।

उस समय श्री प्राणगोपाल मुखर्जी, अवसर-प्राप्त डिपुटी पोस्ट मास्टर जनरल, ढाका में थे। उन्होंने और बाउलचन्द्र बसाक ने इस स्थान के संरक्षण की व्यवस्था की।

साक्षात्कार के पहले दिन ही माँ ने संकेत किया था कि 'भूख होनी चाहिये।' किन्तु विषयवासना में फँसे प्राणों के लिए यह भूख होनी ही कठिन हैं जब तक कि हृदय की उद्दाम सांसारिक तरंगें उन्हीं के चरणों में जाकर शान्त न हो जायें। इसीलिये सदैव ही मन ही मन प्रार्थना करता कि 'माँ, मूर्तिमयी क्षुधा तो तुम्हीं हो, भूख दो।' किस प्रकार माँ ने अनेक लीला-रहस्यों द्वारा अपनी अहैतुकी कृपा प्रकट कर मेरे चंचल लक्ष्य को

अपनी विराट सत्ता की ओर आकर्षित किया, इस सम्बन्ध की कई एक घटनाओं का संक्षेप में उल्लेख करता हूँ।

(१) एक दिन रात को मैं अपने घर के खुले बरामदे में टहल रहा था, सारा संसार चाँदनी से प्लावित हो जगमगा रहा था, मैंने मुँह घुमाते ही देखा कि माँ मेरे साथ छायामूर्ति की तरह चल रही हैं। उनके बदन पर लाल जम्पर और लाल चौड़े किनारे की साड़ी है। मैं कुछ घंटे माँ को आश्रम में सफेद जम्पर और लाल फीता किनारे की साड़ी पहने घूमते देख आया था। दूसरे दिन सुबह जाने पर माँ को वही दोनों चीजें पहने देखा और यह भी पता लगा कि मेरे चले आने के बाद किसी ने उनको यह वस्त्र पहनाये थे।

माँ ने सुनकर कहा, "मैं देखने गयी थी कि तू क्या कर रहा है।"

(२) एक दिन माँ मेरे घर आयीं, मंजिल पर बैठकर बातचीत कर रही थीं। इतने में माँ को कहीं और ले जाने के लिये एक मोटर आयी। पहले ही से वहाँ जाने की बात थी, लेकिन मैं उस बात से अनभिज्ञ था। मैं जाने के लिए प्रस्तुत हुईं, मुझे बहुत ही दुःख हो रहा था। दुःखी हृदय से माँ को मोटर पर बिठाने के लिये नीचे उतरा। माँ मोटर में बैठ गयीं किन्तु मोटर चली नहीं। माँ मेरी ओर देख-देख कर हँस रही थीं। बहुत कोशिश करने पर मोटर न चलती देख एक किराये की घोड़ा-गाड़ी लायी गयी। यह देख मुझे दुःख हुआ कि मोटर के रहते हुए भी माँ घोड़ा-गाड़ी से जावें सो क्यों! उसी समय मोटर से आवाज हुई और माँ मोटर ही में गयीं।

(३) शाहबाग में धीरे-धीरे लोगों की खूब भीड़ होने लगी। एक बार चार दिन तक वहाँ जाकर भी मैं माँ के साथ बात-चीत न कर सका। पाँचवे दिन सुबह जाने का इरादा करके भी मन खराब होने के कारण नहीं गया, हताश हो बैठा रहा। देखा कि बायस्कोप की तरह माँ की मूर्ति दीवार पर अङ्कित है। उनकी मुखश्री गम्भीर थी। पीछे मुड़ कर देखा कि श्री अमूल्यरतन चौधरी कुर्सी पकड़े खड़े हैं। उन्होंने ने कहा, आपको लिवा लाने के लिये माँ ने गाड़ी भेजी है।" शाहबाग जाते ही माँ ने कहा, "इधर कई दिनों से तुझमें अस्थिरता देख रही हूँ। अस्थिरता आये बिना स्थिरता भी नहीं आती। घी से हो, चन्दन काठ से हो, यहाँ तक कि घासफूस से भी, किसी भी तरह आग जलाने की आवश्यकता है। अग्नि एक बार जल उठने पर फिर भावना नहीं रहती है, सब भस्म कर ही देगी। देखा है न? एक ही चिनगारी कितने परिश्रम से बने मकान को पल भर में ही भस्म कर देती है'।"

(४) अर्द्धरात्रि में घर में या कभी दोपहर को आफिस में बैठा होता, एकाएक माँ को देखने की उत्कट अभिलाषा और अस्थिरता जाग उठती। अनेक बार माँ उसी समय और उसी स्थान पर उपस्थित हो बोल उठतीं 'तूने पुकारा था, इसीलिये आयी हूँ।

(५) एक दिन शाम को आफिस से लौटने पर मैंने सुना कि कोई आदमी १२ बजे एक बड़ी मछली हमारे घर में रख फिर आने को कह कर चला गया है। उसके बाद फिर वह नहीं देखा गया। मछली पड़ी ही थी। जब शाम तक कोई भी नहीं आया तो

उसके टुकड़े-टुकड़ कर शाहबाग भेज दिये गये। दूसरे दिन सुबह शाहबाग पहुँचते ही पिता जी ने कहा, "तुम्हारी माँ कल रात हँसते-हँसते कह रही थी कि 'ज्योतिष तो हमारा भगवान ही है।' कल सुबह यहाँ कुछ भक्तों ने प्रसाद पाया था, शाम को जो कीर्तन करने के लिये आये थे उन्होंने भी सुबह के प्रसाद की बात जान प्रसाद के लिए आग्रह किया। घर में उस समय कुछ नहीं था किन्तु तुम्हारी माँ ने मसाला आदि ठीक कर रखा था उसी समय तुम्हारे घर से खगा मछली ले आया। इसीलिये तुम्हारी माँ ने ऐसा कहा।" मैं तो अवाक् हो गया, कहाँ से कौन व्यक्ति मेरे घर मछली रख गया और उसी से शाहबाग के भक्तों की परितृप्ति हुई।

इस प्रकार की और भी बहुत सी घटनाएं हुईं। शाहबाग में कोई माँ के पास प्रसाद के लिये बैठा है और उसे देने के लिये कोई वस्तु नहीं है। इधर ठीक उसी समय कुछ मिठाई व फल आदि भेजने के लिये मेरा मन व्याकुल हो उठा। मेरे आदमी ने उसे शाहबाग ले जाकर देखा कि माँ मानों उसी की प्रतीक्षा में बैठी हैं।

(६) एक दिन रात के तीन बजे मैं अपने घर में बैठा क्या देखता हूँ कि माँ अपने बिछौने में जिस ओर सिर रख कर लेटती थीं ठीक उसके विपरित दिशा में उनका सिर है। सुबह जाकर माँ को वैसे ही देखा। पूछने पर पता चला कि माँ शेषरात्रि बाहर गयी थीं और तभी से इधर ही सिर है।

मैं अपने घर में या आफिस में भी यह जान लेता था कि माँ कहाँ और किस अवस्था में हैं। यह इच्छा करके जान लेता था

सो बात नहीं । अपने आप कभी कभी आँखों के सम्मुख ये सब चित्र खिंच जाते थे । भूपेन तब रोज ही शाहबाग जाया करता था, उसके द्वारा मैं अपने दर्शन की सत्यता प्रमाणित करता था । कभी साधारण अन्तर हो जाता था । माँ कहतीं तेरा घर तो शाहबाग ही है, अपने घर तो केवल घूमने ही जाता है ।'

(७) एक दिन बारह बजे के समय मैं आफिस में काम कर रहा था। भूपेन ने आकर कहा—"माँ ने आपको शाहबाग बुलाया है । मैंने माँ को बता दिया था कि आज बड़े साहब छुट्टी से लौटकर अपना चार्ज लेंगे । माँ ने कहा 'जिसकी बात है उससे जाकर कहो, वह जो चाहे सो करे ।' बिना कुछ शंका किये कागज-पत्रों को वैसा ही छोड़ बिना किसी से कहे-सुने मैं शाहबाग जा पहुँचा । माँ ने कहा 'सिद्धेश्वरी आसन में चलो ।' पिताजी, माँ और मैं वहाँ गये । जिस स्थान पर अब स्तम्भ और शिवलिंग है, वहाँ उन दिनों एक कुण्ड था, उसमें माँ जा बैठीं । माँ का खूब हास्योत्फुल्ल भाव और आनन्दमयी मूर्ति थी । सहसा मैं पिताजी से बोला 'माँ को हम सब श्री श्री माँ आनन्दमयी कहेंगे ।' वे बोले 'अच्छा ऐसा ही होगा ।' माँ स्थिर दृष्टि से कुछ देर तक मेरी ओर देखती रहीं ।

लगभग साढ़े पाँच बजे हम लौटे, माँ ने मुझसे पूछा 'अब तक तो प्रसन्न था अब देख रही हूँ कि तेरे चेहरे का रङ्ग कुछ बदल रहा है ' मैंने कहा 'घर की ओर मुँह करने से ही आफिस की बात याद आ रही है ।' माँ ने कहा 'कोई चिन्ता की बात नहीं ।' दूसरे दिन आफिस जाने पर बड़े साहब ने उस दिन की बात ही नहीं उठायी ।

मैंने माँ से पूछा था, 'ऐसी अवस्था में माँ ! आपने क्यों बुला भेजा ?' माँ ने कहा 'देखा कि इतने महीनों में कहाँ तक पहुँचे हो। और सिद्धेश्वरी न जाते तो इस शरीर का नामकरण कैसे होता।' यह कहकर वे खूब हँसने लगीं।

(८) एक बार गवर्नर ढाका आये। बड़े साहब ने मुझसे कहा "कल दस बजे गवर्नर के साथ मेरे मिलने की बात है। मैं आफिस होता हुआ जाऊँगा, तुम साढ़े नौ बजे आफिस में आ सकोगे ?" मैंने कहा 'अवश्य'। मुझे दूसरे दिन शाहबाग से लौट कर आने में देर हो गयी और आफिस पहुँचते-पहुँचते नौ बजकर पचास मिनट हो गये।' मन ही मन सोच रहा था कि साहब से क्या कहूँगा। इसी समय साहब ने अपने बँगले से फोन किया 'मेरी मोटर खराब हो गयी है, तुम्हे व्यर्थ ही कष्ट दिया इसके लिए मुझे दुःख है। मैं ग्यारह बजे लाट साहब के निवास स्थान पर जाऊँगा।'

मां ने सुनकर कहा, 'इसमें नयी बात क्या है ? तूने ही तो उस दिन मेरी मोटर बिगाड़ दी थी।'

(९) एक दिन माँ हमारे घर आयीं। बातों ही बातों में मैंने कहा 'माँ ! आपके लिये तो ठण्डे गरम का कुछ भेद है नहीं। एक जलता अंगारा पैर पर गिर पड़े तो आपको उससे कष्ट तो नहीं होगा ?' माँ ने कहा 'डालकर ही क्यों नहीं देख लेता।" मैंने और बात नहीं बढ़ायी। कई दिनों के बाद माँ ने उसी चर्चा के फलस्वरूप एक अंगारा स्वयम् ही अपने पैर पर रख लिया। जले हुए स्थान पर घाव दिखाई देने लगा। लगभग एक महीना हो चला किन्तु घाव सूखा नहीं। मुझे स्वयम् अपनी मूर्खता पर बड़ा दुःख हुआ। एक

दिन माँ के पास जा मैंने देखा कि वे दोनों पैर पसार कर बरामदे में एकाग्र दृष्टि से बैठी हैं। मैंने प्रणाम कर उस घाव की पीब मुँह से चूस ली। उसके दूसरे दिन से ही घाव सूखने लगा।

इस सम्बन्ध में पीछे मैंने माँ से पूछा--"माँ, जब अंगारा माँस के ऊपर रखा तो कैसा लगा ?" माँ ने कहा "लगने के बारे में तो कुछ कह नहीं सकती, यह तो ऐसे ही खेल था। मैं तो अंगारे का काम बड़े आनन्द से देख रही थी। पहले तो देखा कि रोम जल गये फिर चमड़ा जलने लगा तो एक प्रकार की गन्ध आयी। बाद में तो जलता हुआ कोयला अपना काम समाप्त कर बुझ गया। जब घाव हुआ तो अपने स्वाभाविक रूप में रहता ही गया, जब तेरी ही तीव्र इच्छा हुई कि घाव भर उठा और घाव सूखने लगा।"

(१०) माघ का महीना और जोरों का जाड़ा था। माँ के साथ खूब सुबह ही मैं नंगे पैर रमना के भीगे मैदान में घूम रहा था। दूर से देखा एक स्त्री-दल चला आ रहा है। मेरे मन में यह विचार उठा कि ये लोग आते ही माँ को आश्रम में ले जायेंगी। यही सोच रहा था कि उसी समय सारा मैदान घने कुहरे से आच्छन्न हो गया, और दर्शनार्थियों का दल फिर दिखाई न दिया। दो तीन घण्टे के बाद जब हम लोग आश्रम लौटे तो सुना कि वे लोग मैदान में खोजते-खोजते हैरान होकर लौट गयीं। मैदान खूब बड़ा था। यह प्रसङ्ग माँ को बताने पर माँ ने कहा, "तेरी तीव्र इच्छा ही पूर्ण हुई।"

(११) एक बार माँ को खूब सर्दी और खाँसी हो गयी। मैं यह देख बड़े ही कातर भाव से बोला 'माँ ! जल्दी ही अच्छी हो

जाओ ।' माँ ने मेरी ओर देखते हुए हँसते-हँसते कहा, "अच्छा कल से ही अच्छी होने लगूँगी ।" और वही हुआ ।

(१२) एक दिन सुबह जाकर देखता हूँ, कि माँ को ज्वर है । मैंने उस रात कमरे मैं बैठ एकाग्र मन से माँ के निकट प्रार्थना की कि उनकी बिमारी मुझे हो जाय । शेष रात्रि में सचमुच ही मुझे ज्वर तथा माथे मैं दर्द होने लगा । प्रातःकाल माँ के समीप पहुँचते न पहुँचते ही माँ बोलीं, "मैं तो अच्छी हो गयी किन्तु तुझे ज्वर हो गया । घर जाकर स्नानादि कर भली प्रकार खाना-खाना ।" मैंने वैसा ही किया और शाम ही से मेरा शरीर अच्छा होने लगा ।

माँ बोलीं "शुद्ध अनन्य भाव से सब ही सम्भव है"

(१३) मेरे हाथ 'साधु-जीवनी' नामक एक पुस्तक आयी । उसमें एक जगह एक उक्ति थी, "वे दरिद्र को अन्नदान करने के लिये सर्वदा अपने भक्तों को उपदेश देते हैं ।" इस उक्ति के पास ही एक नोट मैंने लिख रखा था । "केवल अन्नदान से ही तृप्तिसाधन नहीं होता है ।" घटनाक्रम से यह पुस्तक शाहबाग जा पहुँची और मेरा मन्तव्य भी माँ के कान में पड़ा । इसके कई दिनों बाद मैं सुबह शाहबाग गया । एक आदमी पागल सा माँ को आकर बोला, "मुझे कुछ खाने को दो, नहीं तो मेरे प्राण नहीं बचेंगे ।" यह सुन माँ ने रसोईघर तथा भण्डारघर में जो कुछ पाया वह उसको दे दिया । उस आदमी के पानी माँगने पर माँ ने मुझसे कहा, "इसे पानी दो ।" पानी देते समय मुझे पता चला कि वह मुसलमान है तथा तीन दिनों से उसे खाना नहीं मिला था । उस दिन भूख-प्यास की असहनीय ज्वाला से विकल होकर बगीचे की दीवार फाँद कर आया था । माँ ने मुझसे कहा, "देखा,

अन्नदान कितना आवश्यक है। यह आदमी तेरी भूल बताने के लिये ही आया था। पात्र और समय के अनुसार सब कुछ ही जरूरी है। इस जगत में कुछ भी व्यर्थ नहीं होता।"

(१४) एक दिन मैंने माँ से कहा "माँ, आजकल मुझे खूब नाम स्मरण हो रहा है।" तब समय-समय पर मध्यरात्रि में नाम आपसे-आप होने लगता था। माँ से यह बात करते समय खुशी के साथ अहंकार का भी लेश था। माँ मेरे मुँह की ओर देखती रहीं। विशेष कुछ बोलीं नहीं। घर आकर अनुभव किया कि चेष्टा करने पर भी नामजप नहीं हो रहा है। दिन गया और रात भी बीत गयी किन्तु नाम का प्रवाह आपसे आप बन्द हो गया। दूसरे दिन सुबह भूपेन से कहा "माँ से इस बारे में कहना तो।" भूपेन ने जाते समय रास्ते में माँ को गाड़ी पर जाते हुए देख मेरी दुर्दशा की कहानी बता दी। माँ जोर से हँसने लगीं। उस समय दस बजे थे। इधर ठीक उसी समय मेरे भीतर नाम आपसे आप प्रवाहित होने लगा। पीछे मुझे ज्ञात हुआ कि भूपेन के साथ माँ की भेंट कब हुई थी।

इस प्रसंग में माँ ने बताया कि धर्मपथ में किंचित अहंकार की छाया भी लक्ष्य को आच्छादित कर देती है।

(१५) श्री श्री माँ का प्रवाह अदृश्य रूप से किस प्रकार हमारे हृदय में तुरन्त ही असर करता है इसका एक दृष्टान्त देता हूँ। हम उस कृपा को अपनाकर पकड़ नहीं पाते, इसीलिये जैसे थे वही रहते। एक दिन माँ ने हँसते-हँसते कहा था, "नाम करते-करते चित्त शुद्ध होता है, बाद में श्रद्धा और भक्ति का आविर्भाव होने पर भाव शुद्ध हो जाता है, भाव शुद्ध होने पर

अनेक प्रकार की उच्च-उच्च अवस्थाओं का आभास होने लगता है और वही कार्य पूर्ण कर देता है"। जिस दिन माँ की यह वाणी मेरे कानों में पड़ी उसी दिन संध्या समय एकान्त में बैठ अनुभव किया कि नाम करने में अपूर्व आनन्द का भास हो रहा है। नाम मानो अविच्छिन्न गति से एकसूत्र हो चल रहा है। रात में सोया और जैसे ही नींद टूटी तो देखा कि धारा पूर्ववत् चल रही है। दूसरे दिन अनेक प्रकार की झंझटों में इस भाव का प्रवाह घटता बढ़ता रहा। किन्तु साँझ को जैसे ही उसी भाव से आसन पर बैठा त्योंही पहले दिन की भाँति आनन्द जग उठा, रात में नींद नहीं आयी। मध्यरात्रि में कभी-कभी तो ऐसा लगता कि नाम जब तक बन्द नहीं होगा तब तक मुझे चैन नहीं मिलेगा। मैंने पहले कभी भी गोमुख आसन नहीं किया था किन्तु उस दिन शेषरात्रि में अपने आप ही उस प्रकार का आसन हो गया। उस समय शरीर और मन एक अवर्णनीय आनन्द में आप्लुत हो उठा। नेत्रों से अविरल अश्रुधारा बहने लगी। मैं अचल, अटल होकर एक ध्यान में बहुत देर तक बैठा रहा।

माँ ने सुनकर कहा, "यह तो शहद की एक बूँद का आस्वादन मात्र हुआ है, अब सोच ले कि एक मधु के छत्ते में कितनी मिठास होगी।"

(१६) माँ के श्री चरणों में शरणागति की प्रथमावस्था में एक दिन प्रातःकाल चुपचाप बैठा था। हृदय गम्भीर उच्छ्वासमय था। रोते-रोते यह गान स्वतः निःसृत होने लगा—

तुम्हारी साधना तुम्हारी वन्दना।
होवे मेरा जीवन सम्बल।

तुम्हारी स्तुति भाव अनुभाव में।
होवे मेरा हृदय उज्ज्वल।
तुम्हारी खोज में आकाश की ओर।
अनिमेष दृष्टि से मैं देखूँ।
माँगूँगा नहीं कुछ कहूँगा भी नहीं।
चरणों में गिराऊँगा केवल अश्रुजल।
तुम्हारे असीमत्व में घूमूँगा फिरूँगा।
गाने को केवल तुम्हारी महिमा।
तुम्हारे आनन्द में रहूंगा सदानन्द।
लेकर तुम्हारे नाम की तरंग।
मेरे सब कर्म सब धर्म।
तुम्हारी अर्चना ही के लिए।
ओ माँ! शुद्ध भक्ति, विश्वास दो।
सुन्दर चरणों को करूँ सम्बल।

इस गाने का शीर्षक 'पागल का गाना' रख इसकी एक प्रति-लिपि मैंने माँ की सेवा में भेज दी। सुना कि माँ उस समय हँसिया ले लौकी काट रही थीं। गाने के पद सुनते-सुनते उनके हाथ से लौकी गिर पड़ी, एक विचित्र भाव से कुछ देर के लिये स्थिर हो गयीं।

पीछे मेरे साथ भेंट होने पर माँ ने कहा, "जगत भावमय है, सृष्टि की सभी वस्तुयें भावों का प्रतिरूप हैं (मूर्त रूप हैं) भावों के द्वारा यदि स्वयम् को जाग्रत और उन्नत कर सकोगे तो देखोगे कि ब्रह्माण्ड में सब जगह एक ही प्रकार की लीला हो रही है। भाव के अभाव में ही मनुष्य इधर-उधर खोजता फिरता है, इसलिये यथार्थ तत्त्व नहीं जान पाता।"

इसके बाद एक दिन सिद्धेश्वरी-आसन पर हम बैठे थे। मां ने हठात् कहा, "अपना 'पागल का गान' तो गा।" गाने का अभ्यास बहुत दिनों से छूट गया था, और फिर वहाँ आदमी काफी थे। मैं दुविधा में पड़ गया। माँ ने हँसते-हँसते कहा, "पागल का गान लिखा मात्र ही है, अभी तक पागल हो नहीं सका।" माँ की बात ने हृदय को प्रायः विदीर्ण-सा कर दिया और वहाँ व्यस्तता के साथ गाना गाया।

इस प्रकार माँ को उपलक्ष्य करके अनेक गानों की रचना हुई और वे सब माँ के चरणों में निवेदित होने पर माँ कभी-कभी खूब प्रसन्न होती थीं अथवा कभी बिल्कुल चुप भी हो जाया करती थीं। ऐसा भी किसी समय हुआ कि जब माँ ढाका में नहीं थीं और मैं एकान्त में अपने कमरे में सन्ध्या और रात्रि के समय अपने भावमें गान करने लगता तो देखता कि माँ स्थिर मूर्ति में खड़ी हैं। कभी-कभी घूम फिर कर ढाका लौट आने पर माँ कहतीं—"उस दिन जो गाना तू गा रहा था, उसे अब गा तो।" यद्यपि तब तक वह गाना माँ को दिखाया भी नहीं गया था तथा कोई चर्चा भी नहीं उठी थी।

माँ के दर्शनों की उत्कट व्याकुलता कभी-कभी एकमुखी हो मुझे असीम में बहा ले जाती थी। इस प्रकार की अवस्था में भीतर से जिन गानों की रचना हुई थी, उन्हें 'श्रीचरणों में' इस नाम की पुस्तक में छपवा दिया था।

इसके अलावा कितने गाने, कितनी ही कवितायें, कितने प्रबंध माँ के निमित्त लिखे और फाड़े गये उनकी गिनती नहीं है। माँ ने एक दिन यह सुनकर कहा था, 'केवल इसी जन्म में ही नहीं

न जाने पूर्व कितने जन्मों में कितने फाड़े होंगे इसका कोई ठिकाना है ? लेकिन इतना जान लेना कि इतनी फाड़-फूड़ के भीतर से बस इस बार ही तेरा अन्त है ।'

उपर्युक्त बहुमुखी कृपा का प्रत्यक्ष प्रभाव यह हुआ कि भूख तो अवश्य लगी किन्तु दूषित जीभ, रस और सुस्वादु भोजन का परित्याग कर कटु और रूखे-सूखे आहार के लिये ही लालायित रहने लगी । वैष्णव ग्रन्थों में देखा जाता है—

"जीभ के खातिर जो इधर-उधर दौड़ता
ऐसा कामुक ओ पेटू कृष्ण नहीं पाता" ।

मेरी अवस्था भी वही हुई । माँ की अपार दया और अचिंतनीय स्नेह भी मुझे उनके चरणों में हर समय बाँध नहीं रख सका । अज्ञान जीव के लिए नित्य भाव में स्थित होना बहुत कठिन है । मैंने माँ से एकदिन कहा "आपका ज्ञान जैसा आश्रय पाकर पत्थर भी शायद सोना हो जाता किन्तु मेरा तो कुछ भी नहीं हो पाया ।" माँ ने कहा "जो वस्तु तैयार होने में जितना अधिक समय लेती है वह उतनी ही मजबूत और सुन्दर होती है । तू इतना सोचता क्यों है, केवल बालक की तरह हाथ पकड़े रह ।" कितनी ही गम्भीर वाणियाँ तथा उपदेश सतृष्ण हृदय से सुनता किन्तु फिर भी प्यासा रहता । मेरी ऐसी दुर्दशा के अन्दर माँ की दृष्टि कितनी अटूट रहती उसका एक उदाहरण नीचे उद्धृत करता हूँ—

माँ का कृपाप्रार्थी हो उनके दर्शनों के प्रेम से जब मैं वहाँ रोज आने-जाने लगा, तब लोग जब तब कटाक्ष करने लगे । उनकी चर्चा सुन मैंने विचार किया कि सदा इधर-उधर दौड़ना चित्तकी दुर्बलता के सिवा और कुछ नहीं है ।

'योगवाशिष्ठ' का पाठ करके विचार के मार्ग की ओर अग्रसर होऊंगा, ऐसा संकल्प कर मैंने ७-८ दिन उसमें मन लगाया। एक दिन दोपहर को जब कि मैं घर ही पर था खगा ने आकर सूचना दी कि एक वृद्ध ब्राह्मण (विक्रमपुर के अन्तर्गत गाउदिया गाँव के श्री कालीकुमार मुखोपाध्याय) पाँच मिनट के लिए आप से मिलना चाहते हैं। उनसे मिलने पर उन्होंने कहा "मैं निरंजनबाबू और शशांक बाबू (पूज्य स्वामी अखण्डानन्दजी) के घर गया था, उनको घर पर न पाकर आपको कष्ट देने के लिए आया हूँ। सुना है कि आप माँ आनन्दमयी के भक्त हैं। माँ कैसी हैं उनका विशेषतत्व क्या है? ये प्रश्न सुनते ही आँखों में आँसू भर आये। मैं गूँगा-सा हो गया। वे बोल उठे "मैं जवाब पा गया, लेकिन जरा बताइये तो आप रोये क्यों?" मैंने कहा "इधर कुछ दिनों से माँकी चिन्ता छोड़ अन्य विषयों में मस्त था और आप मेरे पास माँ की खोज के लिये आये हैं मैं लज्जा और दुःख से मरा जा रहा हूँ। माँ की कैसी अद्भुत लीला है! आपने उपयुक्त समय पर आकर मुझे निर्दिष्ट पथ की ओर लौटा दिया है, आपके निकट मैं चिरऋणी रहूँगा।" उन्होंने कहा "मुझे इसी समय माँ के समीप ले चलिए।" माँ का साक्षात्कार पाकर उन्होंने कहा "मैं बहुत दिनों से मातृहीन था किन्तु माँ को देखते ही ऐसा लगा कि मेरा अभाव मिट गया।"

उक्त घटना माँ को बता मैं उनके चरणों पर गिरकर रोने लगा और माँ तो केवल हँसती रहीं। बाद में माँ ने कहा "आज-कल के दिनों में आँखों में अँगुली देकर प्रत्यक्ष न दिखलाने से काम नहीं चलता।"

मन्त्र-विभूति

जहाँ तक पता चला है श्री श्री माँ का गुरुकरण व दीक्षा, लोकरीति के अनुसार नहीं हुई। शास्त्र आदि के अध्ययन से उनको दिव्य ज्ञान नहीं हुआ है। बहुतों की धारणा है कि वह भागवती ऐश्वर्य लेकर वर्तमान युग के प्राणियों के कल्याण के लिये पृथ्वी पर अवतीर्ण हुई हैं।

बचपन में माँ के शरीर में नाना प्रकार के अद्भुत भावों का विकास होता था। पर वह साधारण लोगों को दृष्टिगत नहीं होता था। वे बचपन में खेल-कूद से इतनी उदास और विरक्त थीं कि लोग उन्हें बेवकूफ व गूँगी लड़की समझते थे। यहाँ तक कि श्री श्री माँ के मातापिता भी उनके भविष्य के विषय में चिन्तित रहते थे। कभी-कभी ऐसा होता था कि अपनी स्थिति तथा पूर्वक्षण में क्या बात कही थी और कौन काम किया था इसका भी माँ को ख्याल नहीं रहता था।

जैसा कि सुना गया है कि वे चलते-चलते पेड़ पौधों के साथ या अशरीरी और अदृश्य मूर्तियों के साथ बातें करती थीं तथा अनेक प्रकार के भावों का प्रकाशन करती थीं। कभी विमना हो चुप हो जाती थीं।

उनके शरीर में १७-१८ वर्ष की अवस्था से लेकर २४-२५ वर्ष तक नाना प्रकार के अलौकिक भावों का विशेष प्रकाश होना आरम्भ हुआ। कभी-कभी देवी-देवताओं के नाम का उच्चारण

करते-करते विवश होकर गिर पड़ती थीं, कीर्तन आदि के प्रभाव से भी अचेतन हो जाती थीं, भगवत् प्रसंग सुन अथवा देवमन्दिर के दर्शन से उनका शरीर व्यावहारिक जगत् के कार्य के योग्य नहीं रहता था। श्री श्री माँ प्रायः १८ वर्ष की उमर में बाजितपुर (जिला मैमनसिंह) जाकर पाँच-छः वर्ष रहीं। इस समय के अन्तिम भाग में उनके शरीर से मन्त्रादि स्फुरित हुए और देवी-देवताओं की मूर्तियाँ उज्ज्वल हो प्रकाशित हुईं, समस्त देह में यौगिक क्रियायें भी होने लगीं। इस प्रकार दैवी प्रभाव के प्रकाशन के साथ वाक्शक्ति बन्द हो गयी और इस तरह मौनावस्था में १ साल ३ मास बाजितपुर में, तथा १ साल ९ मास ढाका में बीते। अन्त में लोक-दृष्टि से एक निर्मल शान्ति या विराट् भाव का प्रकाश हुआ। तब देखा गया कि उनके शरीर में बाहरी भीतरी क्रियायें बन्द हो गयी हैं और वे अपने भाव में प्रतिष्ठित हो गयी हैं। इस समय का एक चित्र इस पुस्तक में यहाँ दिया गया है।

उक्त प्रकार की अवस्थाओं के प्रकाश के समय पिता जी प्रायः चिंतित हो जाते और सोचते कि इन सबका परिणाम क्या होगा।

किन्तु अनेक प्रकार की लोकचर्चाओं के होते हुए भी पिताजी ने माता जी के किसी कार्य में बाधा न दी। उनके शरीर में देवता का प्रवेश हुआ है ऐसा सोच कर पिता जी ने अनेक बार साधुओं और ओझाओं द्वारा प्रतिकार की चेष्टा की। उससे कोई लाभ नहीं हुआ वरन् वे लोग ही माँ के निकट जा भय और विस्मय से विह्वल हो गये और माँ की कृपा पा करके ही फिर से स्वस्थ हुए।

उस समय श्री श्री माता जी के शरीर में प्रायः साढ़े पाँच महीनों तक अनेक देवी-देवताओं का आविर्भाव हुआ था; उन्होंने कितने सजीव देव-देवी की मूर्तियों के दर्शन किये थे उसका हिसाब नहीं है। वे उन सबकी पूजा करती थीं, पूजा के पश्चात् वे फिर उनके शरीर में विलीन हो जाते! वाहन आदि के साथ एक देवता की पूजा समाप्त होने पर अन्य देवता का आगमन होता था। पूजा और आरती के समय माँ अनुभव करती थीं कि वे स्वयम् ही देवता, पूजक, तन्त्रधार, मन्त्र तथा पूजा की सामग्री फूल नैवेद्य आदि हैं।

उपर्युक्त पूजा में किसी प्रकार का बाह्यिक उपचार नहीं था तथा वे अपनी इच्छा से ही इन क्रियाओं को नहीं करती थीं। एकान्त में बैठते ही स्वाभाविक रूप से पूजा आदि की यथाविधि दैहिक और मानसिक क्रियायें शरीर के ऊपर स्वतः ही होने लगती थीं। पीछे कर्मकाण्डी लोगों से मालूम हुआ कि कुण्डल, यन्त्र, आदि के निर्माण से लेकर मंत्र, योग, यज्ञ आदि सम्पूर्ण अनुष्ठान शास्त्रीय विधि से सम्पन्न होते थे। इस विषय में यदि माँ से कोई प्रश्न करता तो माँ कहतीं "मुझसे मत पूछो, समय आने पर सब कुछ जान लोगे।"

२८, चैत्र बँगला संवत् १३३० (सन् १९२३ ई०) को माँ ने ढाका में पदार्पण किया और तीन-चार दिन बाद ही स्थानीय शाहबाग में जाकर रहने लगीं। क्रमशः भक्त-समागम होने लगा। १९३५ ई० में पूर्वोक्त अलौकिक पूजा के विषय में सुनकर कुछ भक्तजनों ने माँ से काली-पूजा करने का अनुरोध किया। माँ ने कहा, "मैं तुम लोगों के शास्त्रीय अनुष्ठान की बात तो जानती

नहीं हूँ, अच्छा होगा कि पुरोहित से पूजा करवायी जाय।" बाद में पिताजी की इच्छा से माँ पूजा करने को तैयार हुईं।

जिनकी पूजा करके सब आनन्द पाते हैं वही यदि अपने भक्तों को सिखाने के लिए स्वयम् पूजा करने को प्रस्तुत हों तो उस पूजा की महिमा कितनी अपूर्व होगी यह अकथनीय है। श्री श्री माँ पूजा करेंगी तो वह कैसी होगी इस विषय में कल्पना मात्र से भक्तजनों के हृदय में उत्सुकता और आनन्द का बोध होता था।

यथासमय मूर्ति आयी। पूजा के समय माँ आसन पर बैठ कर कुछ क्षणों के लिये भूमि के ऊपर चुपचाप पड़ी रहीं। बाद में भाव विभोर होकर यंत्रवत् मंत्रादि का उच्चारण करते-करते दाहिने और बायें आथ से अपने सिर पर ही फूल और चन्दन देने लगीं, कभी-कभी काली मूर्ति के ऊपर भी चढ़ा देती थीं। इस प्रकार पूजा सम्पन्न हो गयी।

बलि की व्यवस्था थी। बकरा नहला कर माँ के पास लाया गया, माँ उसे अपनी गोद में लेकर रोते-रोते उसके शरीर पर हाथ फेरने लगीं। फिर उनके अंगप्रत्यंग में मन्त्र पाठ कर उसके कान में कुछ मन्त्र जप किया।

खड्ग की पूजा करते समय उन्होंने भूमि पर पड़कर अपनी गर्दन के ऊपर उसे रखा। उस समय बकरे के समान तीन आवाजें उनके मुख से बाहर हुईं। उसके बाद बकरे को बलि के लिये ले जाते समय देखा गया कि वह न तो चिल्लाया और न छटपटाया ही। बलि के बाद उसकी देह में से रक्त भी नहीं गिरा। बड़ी मुश्किल से होम के लिए एक बूँद संग्रह किया गया। उस समय

श्री श्री माँ की असाधारण सुन्दर मूर्ति ने सब लोगों की दृष्टि आकर्षित की और क्रियाकर्म के आरम्भ से अन्त तक एक अपूर्व एकरसता देखने में आयी ।

१९२६ ई० में भी काली-पूजा के लिए माँ से प्रार्थना की । इसी बीच में एक दिन माँ किसी एक भक्त के घर गाड़ी में बैठ कर जा रही थीं । माँ सहसा अपना बायाँ हाथ ऊपर उठा कर तनिक मुस्करा कर चुप हो गयीं । पिताजी के पूछने पर भी कोई उत्तर नहीं दिया । बाद में जब वह भोग के लिए बैठीं तो फिर पहले की तरह माँ ने अस्वाभाविक भाव से हाथ उठाया । इस विषय में माँ ने बाद में बताया कि जब वे रास्ते से जा रही थीं तब १२० अथवा १३० गज दूर मैदान के बीच में जमीन से १८ हाथ ऊँची एक सजीव काली मूर्ति माँ को देख उनकी गोद में आने के लिए मानो हाथ बढ़ाये थीं । फिर भोग के समय वही काली मूर्ति छोटी सी लड़की के रूप में वहीं आ खड़ी हुई थीं । इसीलिये दोनों जगह माँ का बायाँ हाथ ऊपर उठ गया था ।

कालीपूजा के एक दिन पहले शाहबाग में फिर भक्तों ने पूजा के लिए विशेष अनुरोध किया । माँ ने पिताजी से कहा, 'जब इन लोगों का इतना ही आग्रह है तो तुम भी तो पूजा कर सकते हो ।' पिताजी ने यह सुनकर सबसे कहा, "पूजा की बात जब तुम्हारी माँ के मुख से (एक बार) निकली है तो पूजा होगी । तुम लोग आयोजन करो ।' काली-मूर्ति के नाप की बात उठते ही पिताजी को माँ का गाड़ी में और भोग के समय हाथ उठाना स्मरण हो आया । उस समय जितनी ऊँचाई तक हाथ उठा था उतनी ऊँची कालीमूर्ति बनवायी जाय, ऐसा तय हुआ । माँ उस समय

अचेतनसी जमीन पर पड़ी थीं। अन्दाज से एक नाप ले लिया गया। उस समय रात के ग्यारह बजे थे, एक दिन में इस नाप की मूर्ति कहाँ से तथा कैसे तैयार हो, यही सोच–विचार करते हुए श्रीयुत सुरेन्द्रलाल वंद्योपाध्याय शाहबाग से शहर आये। शहर में एक दूकान पर देखा कि ठीक इसी नाप की एक मूर्ति है। उस कारीगर ने १२ मूर्तियाँ बनाई थीं ११ तो आर्डर की थीं और उसने अपनी इच्छा से बनायी थी। वही बची थी। यथासमय वह मूर्ति लायी गयी। पहले की तरह ही माँ ने पूजा का सम्पादन किया। उस समय माँ के अपूर्व देवी भाव के दर्शन हुए। पूजा के कुछ-देर बाद हठात् माँ पूजा के आसन पर से उठ पिताजी से बोलीं 'मैं अपने आसन पर जाती हूँ, अब तुम पूजा करो। यह कह माँ एक क्षण के लिये काली–मूर्ति के पास खड़ी अट्टाहास करती हुई जमीन पर बैठ गयीं। उस समय पूजागृह एक अनिर्वचनीय भावस्पन्दन से प्लावित हो नवीन श्रीयुक्त हो रहा था। माँ ने कहा 'तुम सब आँख मूँदकर नाम करो।'

कमरा आदमियों से भरा था, बाहर आड़ में खड़ा एक व्यक्ति छिपकर पूजा देख रहा था। उसे कोई नहीं देख रहा था। माँ ने उसका नाम ले कर कहा, "तुम भी आँखें बन्द करो।" सबकी आँखें बन्द थीं, क्या हुआ क्या नहीं हुआ कोई भी जान न पाया। आँखें खोलने पर देखा गया कि वकील वृन्दावनचन्द बसाक मूर्छित पड़े हैं। उन्होंने बाद में बताया कि माँ के मुखमंडल पर दिव्य ज्योति देखकर वे बेहोश हो गये थे।

पूजा की समाप्ति के साथ ही रात भी समाप्त हो गयी। उस बार बलि की व्यवस्था नहीं थी। पूर्णाहुति के समय माँ ने कहा,

"पूर्णाहुति नहीं दी जायेगी, यज्ञ की अग्नि रख दो।' वह अग्नि आज भी रमणा आश्रम में है।[१]

दूसरे दिन मूर्ति विसर्जन की बात चल रही थी। श्री निरंजन की स्त्री विनोदिनी विसर्जन के लिए सभी सामग्री लायी थीं। उन्होंने मूर्ति का दर्शन कर माँ से बड़े कातरभाव से कहा, "माँ इस मूर्ति को विसर्जित करते मुझे बड़ा दुःख लग रहा है।" माँ ने कहा, तुम्हारे मुख से जब यह बात निकली है तो शायद यह मूर्ति विसर्जित होना नहीं चाहती है; अच्छा इसको रखकर पूजा की व्यवस्था की जाएगी।"

यह मृन्मयी मूर्ति नाना अवस्था-विपर्ययों के भीतर भी अनेक वर्षों उसी रूप में विद्यमान रही।

१९२७ ई० सितम्बर के महीने में माँ चुनार से जयपुर जा रही थीं। मैं उस समय चुनार ही में था। उन्हें गाड़ी पर चढ़ाने के लिए स्टेशन जा रहा था। तब माँ ने मुझे किले के पहाड़ पर एक स्थान बताते हुए कहा, 'वहाँ तुझे एक फूल की माला मिलेगी, लौटते समय उसे ले जाकर यत्न से रख देना।' मैंने उसे ढूँढ कर रख लिया। जयपुर से लौटने पर माँ ने उस माला को देखा। बाद में जब माँ ढाका गयीं तब खोज करने पर मालूम हुआ कि काली-मूर्ति को रोज माला देने की व्यवस्था थी उस दिन भूल से माला नहीं चढ़ायी गयी थी। एक बार जब माँ काक्स बाजार में थीं, एक

---

१. अब यह अग्नि काशी आश्रम में लायी गयी है और इसी आश्रम में इसकी अखण्ड रूप से स्थापना हुई है। इसी अग्नि द्वारा काशी का गायत्री महा-यज्ञ हुआ है।

दिन सन्ध्या को समुद्र के किनारे घूमते समय हँसते हुए बोलीं, "मेरा हाथ टूट गया है क्या ? टूटा है ? तुम लोग देखो तो वह टूट भी सकता है ।" ठीक उसी रात को ढाका में काली मूर्ति के हाथ तोड़ कर एक चोर गहना लेकर भागा था ।

यह मूर्ति इस समय रमना आश्रम के तहखाने में रखी है । प्रत्येक वर्ष वैशाख या जेठ के महीने में माँ के जन्मोत्सव के समय सब जाति के लोगों के दर्शनार्थ इसका द्वार खोला जाता है । 'भारत में मन्दिरों के द्वार सबके लिए खुले रहें' इस आन्दोलन के पहले ही माँ ने उक्त व्यवस्था की थी ।

एक बार सिद्धेश्वरी आसन में वासन्ती दुर्गापूजा हुई; मूर्तियों की प्राण प्रतिष्ठा के समय माँ स्वयम् वहाँ उपस्थित हो बड़ी देर तक उनकी तरफ देखती रहीं । मिट्टी की उन मूर्तियों की आँखें भी सजीव चल नेत्रों की भाँति दीप्तिमय हो गयी थीं ।

माँ कहती हैं 'देव-देवियों की सत्ता भी वास्तव में हमारी तुम्हारी देह के समान सत्य है और भावपूर्ण नेत्रों से उनके दर्शन हो सकते हैं ।

भाव-विभूति

जिनका प्रत्येक भाव आनन्दमय, आनन्द ही जिनका उपादान, आनन्द ही में हो जिनकी स्थिति, जिन्होंने जगत् में आनन्द-लीला के लिए आनन्द का ही मूर्तिमय रूप धारण किया है, उनमें प्राणीमात्र के मङ्गल के लिए बहुत प्रकार की उत्पत्ति, स्थिति और लय होना नितान्त स्वाभाविक है। एकाग्रचित्त से देखने पर माँ के दो रूप दृष्टिगत होते हैं—एक उनका बाह्य रूप और दूसरा अन्तर का रूप, इन दोनों रूपों का लीला-विलास सदा ही उनमें प्रकाशित है।

आरम्भ से ही ढाका आने पर माँ अधिकांश समय लेटी ही रहती थीं। हम सुना करते थे कि माँ अकथनीय महाभाव की स्थिति में कभी-कभी सारा दिन पड़ी रहती थीं, कीर्तनादि के समय उनकी लीला विशेष रूप से उपस्थित जनसमूह में प्रकाश पाती थी।

बङ्गला सं० १३३२ (१९२६ ई०) में शाहबाग में उत्तरायण संक्रान्ति के उपलक्ष्य में कीर्तन हुआ। यही माँ का सर्वप्रथम प्रकट कीर्तन था। उस समय चटगाँव से श्रीयुत शशिभूषण दासगुप्त ढाका आये। वह वहाँ पहुँचते न पहुँचते ही माँ को देख भक्ति-श्रद्धा से विभोर हो उठे। खूब जनसमुदाय इकट्ठा था, वे दूर से माँ का दर्शन कर रहे थे और अश्रुविमोचन हो रहा था। उन्होंने रोते हुए मुझसे कहा, "जीवन में जो नहीं देखा था वह आज देख लिया, विश्वजननी के साक्षात् दर्शन हुए।" प्रायः १०

बजे कीर्तन प्रारम्भ हुआ। माँ बैठी हुई स्त्रियों को सिन्दूर दे रही थीं, सहसा उनके हाथ से सिन्दूर की डिबिया गिर गयी। शरीर जमीन पर गिर पड़ा। कुछ देर में जमीन पर से उठ पैर के अँगूठे के बल खड़ी हो दोनों हाथों को ऊपर की ओर उठा और सिर को पीछे की ओर ले जाकर स्थिर तथा अपलक दृष्टि से ऊपर देखने लगीं। बाद में माँ इस अवस्था में चलने लगीं। न जाने किस दिव्य भाव से परिपूर्ण थीं। सिर तथा शरीर के कपड़ों की ओर ध्यान ही न था। उनको पकड़ने की भी किसी में क्षमता नहीं थी, उनका समस्त शरीर नृत्य कर रहा था, इसी अवस्था में वह कीर्तन के स्थान पर जाकर गिर पड़ीं। जमीन पर पड़ते ही माँ का शरीर वायु के वेग से एक सूखे पत्ते की तरह ३०, ४० हाथ पर्यन्त इधर-उधर लोटने लगा। थोड़ी ही देर में पड़े-पड़े ही 'हरे मुरारे मधुकैटभारे' ध्वनि सुमधुर स्वर से युक्त हो माँ के मुख से निकलने लगी, मदमत्त की भाँति गद्‌गद हो माँ उठ बैठीं। दोनों आँखों से अश्रुधारा बह रही थी। बहुत देर के बाद वे प्रकृतिस्थ हुईं। उस समय उनकी अपूर्व मुखश्री मधुर दृष्टि तथा गद्‌गद भाव देख सभी कह रहे थे, "पुस्तकों के महाप्रभु गौरांग के भावावेश के विषय में जो पढ़ा था वही आज माँ में प्रत्यक्ष देखा।" सन्ध्या को माँ फिर कीर्तन मण्डली में गयीं। दोपहर की भाँति ही भावावेश दिखाई दिया। कीर्तन मण्डली के साथ-साथ माँ घूमने लगीं, एक पैर के बल उद्दाम नृत्य करते-करते कुछ दूर गयीं फिर उनका शरीर जमीन पर गिर पड़ा। बहुत देर तक ऐसा ही चलता रहा, फिर माँ उठ कर बैठ गयीं। उस समय उनकी भाव-विभोर अधूरी बातें उपस्थित भक्त-मंडली के हृदय में अमृतरस का

भावावस्था में माँ

सञ्चार कर रही थीं। समाप्ति के बाद माँ ने स्वयम् खिचड़ी प्रसाद वितरण किया। विपुल जनता में प्रसाद वितरण की क्षिप्रता, कौशल और अपूर्व मातृभंगी का दर्शन कर सबको ऐसा लग रहा था कि मानो स्वयम् महालक्ष्मी इस भूतल पर अवतीर्ण हुई हैं। श्री श्री माँ की उस दिन की लीला तथा संसार-दुर्लभ ऐश्वर्य की मूर्ति देख उपस्थित अनेक दिव्य-भाव से आविष्ट हो गये थे।

निरञ्जन कलकत्ते से इनकमटेक्स विभाग के असिस्टेण्ट कमिश्नर हो ढाका आये। एक शाम को हम दोनों अमावस के कीर्तन के लिए शाहबाग गये। कीर्तन आरम्भ होने के साथ ही साथ माँ का भाव भी बदलने लगा। जिस अवस्था में माँ बैठी थीं, उसी अवस्था में धीरे-धीरे सीधी होने लगीं और सिर क्रमशः पीछे की ओर मुड़कर पीठ से जा लगा। इसके बाद हाथ पैर मुड़कर धीरे-धीरे शरीर फर्श पर गिर गया। प्रत्येक साँस के साथ समस्त शरीर हिलने लगा तथा प्रत्येक ताल के साथ शरीर समुद्र की लहर की तरह जमीन पर लोटने लगा। प्रचण्ड हवा के झोंके से जिस प्रकार पेड़ का झड़ा पत्ता उड़ता पड़ता है, ठीक उसी प्रकार माँ का शरीर लोट-पोट रहा था, जो साधारण लोगों के लिए साध्यातीत है। सभी को ऐसा लगा मानो भाव-वश हो लीलामयी माँ ने संज्ञाहीन अवश शरीर को तैरा दिया है। सिर व शरीर के कपड़े की ओर तो कुछ ध्यान ही नहीं था। उनको पकड़ने की अनेक बार चेष्टा की गयी किन्तु सब विफल हुई। अन्त में माँ बहुत देर तक गम्भीर और स्थिर हो गयीं मानो किसी अखण्ड आनन्द रस में डूबकर जम गयी हों। माँ की मुखश्री दिव्यज्योति से चमक रही थी, सारा शरीर पूर्णानन्द से विभोर था। निरंजन माँ की इस

भावावस्था के प्रथम दर्शन ही से स्तोत्र का पाठ कर रहे थे। मुझसे बोले "आज साक्षात् देवी का दर्शन हुआ।"

तत्पश्चात् एक दिन शाहबाग में कीर्तन के लिए अनेक व्यक्ति इकट्ठे थे, धीरे-धीरे कीर्तन हो रहा था। पूर्वोक्त अमावस की रात की भाँति ही माँ को भावावेश हुआ। किन्तु इस बार माँ बैठी ही बैठी धीरे-धीरे जमीन पर लेट गयीं और श्वास-क्रिया के साथ ही साथ हाथ-पैर फैला उलटी होकर लेट गयीं। अन्त में लहर की भाँति जमीन पर आन्दोलित होने लगीं। कुछ क्षण बाद सहसा उन्मादिनी सी ऊपर की ओर बिना किसी सहारे के उठने लगीं एवं बहुत देर दोनों एड़ियों के सहारे खड़ी रहीं। श्वास-प्रश्वास का वेग कुछ देर के लिए प्रायः स्थगित सा मालूम पड़ने लगा। दोनों हाथ आकाश की ओर ऊपर को उठे थे, दोनों एड़ियाँ जमीन को स्पर्श मात्र कर रही थीं, सिर पीछे की ओर झुककर पीठ से जा लगा था, अपलक दृष्टि से ऊपर की ओर देखती हुई चल रही थीं—कठपुतली जिस प्रकार किसी अदृश्य हाथ द्वारा चलती रहती है ठीक उसी प्रकार उनका विचरण था। उनकी दोनों आँखें बहुत उज्ज्वल थीं, मुख पर प्रसन्नता और हँसी थी। तनिक देर बाद ही दोनों पैरों के दोनों अगूठों का सहारा देकर कीर्तन के साथ ही साथ अपलक ऊर्ध्व दृष्टि तथा ऊर्ध्व हाथों से शून्य की ओर अग्रसर सी होने लगीं मानो समस्त शरीर की गति ऊपर की ओर खिंचती जा रही है। इसी अवस्था में बहुत सा समय कट गया। बाद में एक जगह आँख बन्द कर उसी भाव में जमीन पर पड़ गयीं। अन्य समय माँ का सिर सीधा रहता था किन्तु

उस दिन फिर ऐसा नहीं हुआ। संज्ञाहीन मांस-पिण्ड की भाँति शरीर पड़ा रहा। दूसरे दिन सुबह प्रायः १० बजे से माँ की अवस्था में अन्तर पड़ने लगा और संध्या को उनकी वही स्वाभाविक चेतना लौट आयी।

इसके बाद निरंजन के घर एक दिन कीर्तन हुआ। सभी, विशेषतः निरंजन की वृद्धा माता माँ का महाभाव देखने को उत्सुक थीं तथा मन ही मन प्रार्थना कर रही थीं कि भावमयी मातृमूर्ति के दर्शन भी उन्हे हों। जिस कमरे में कीर्तन हो रहा था, उसके पास वाले कमरे में माँ लेटी हुई थीं; सहसा माँ कीर्तन के कमरे में जा अलौकिक भाव से कीर्तन में योगदान देने लगीं और दोनों हाथ ऊँचे उठा कर प्रेमावेश से नृत्य करते-करते जमीन के ऊपर पड़ गयीं। उस दिन अपनी स्वाभाविक अवस्था में लौट आयीं किन्तु एकदम मौन हो गयीं।

इन लक्षणों के अतिरिक्त उनके शरीर के भाव इतने विविध प्रकार से प्रकट होते थे जिसका वर्णन करना सर्वथा असम्भव है। शरीर जब लोट-पोट होता था तो कभी लम्बा, कभी छोटा तथा कभी गोलाकार मांसपिण्ड के रूप में हो जाता था। कभी-कभी ऐसा लगता था कि शरीर में हड्डियाँ ही नहीं हैं। शरीर रबड़ की गेद की तरह जमीन पर लुढ़कता नाचता रहता था। उनकी देह की चलनभंगी बिजली की तरह इतनी तीव्र थी कि तीक्ष्ण सावधान दृष्टि द्वारा भी उसका अनुसरण नहीं किया जा सकता था।

ऐसे समय ऐसा प्रतीत होता था मानों यह देह श्री श्री माँ की नहीं है मानों कोई स्वर्गीय भाव का प्रवाह माँ के शरीर को

विगलित कर नृत्य कर रहा हो । शरीर उनका रोमांचित हो उठता, शरीर का वर्ण अरुण हो जाता तथा मुखमण्डल उज्ज्वल हो उठता था । दैवीभाव के स्वतः प्रकाशित लक्षण उनकी देह सीमा में सीमातीत के अपूर्व रूप-माधुर्य का दर्शन कराते थे ।

कभी-कभी उन्मत्त के समान ललित नृत्य कला मानों माँ के शरीर को भी अतिक्रमित कर अपूर्व रूप से चलती, कभी अतल सागर की सी निस्तब्धता तथा मौन शान्ति एकत्रित भक्तजनों के हृदय में अद्भुत भाव उदय करती तथा उनके हृदय की बहुमुखी गति को स्थगित प्राय-सा करा देती थी ।

उस समय उनको देखकर ऐसा लगता था कि वे उपर्युक्त सभी विभूतियों से बहुत उच्च स्तर पर स्थित हैं, और वह सब भाव (विभूतियाँ) मानो किसी अदृश्य संकेत द्वारा उनके शरीर के भीतर स्वतः स्फुरित हो उठती थीं ।

मैंने एक दिन माँ से पूछा, "जब आपको भावावेश होता है तब आपके शरीर में या आँखों के सम्मुख किसी देवी-देवता का आविर्भाव होता है क्या ?" माँ ने कहा, "मेरा लक्ष्य कहीं भी केन्द्रित नहीं है । इसका मुझे कोई प्रयोजन भी नहीं है । तुम लोग भावावेश के लक्षण देखना चाहते हो, इसी कारण कभी-कभी इस शरीर में वह प्रकाशित हो जाते हैं । जब कोई कर्म पूर्णभाव से होता है तब उस कर्म की पूर्ण क्रिया (तद्रूपता) प्रकाशित होगी ही । नाम में तल्लीनता आते ही रूप-सागर में डुबकी लगा सकते हैं । नाम और नामी अभिन्न होने से बहिर्जगत् का भाव लुप्त हो जाता है और नाम की जो स्वप्रकाश शक्ति है वह आप से खिल उठती है ।"

कीर्तन में जिस प्रकार माँ के शरीर की अवस्था अलौकिक हो जाती थी, माँ के मुख से सुना है कि जल, अग्नि, मिट्टी, पशु, पक्षी व किसी विशेष दृश्य आदि देखने पर कभी-कभी वे तद्रूप हो जाती थीं। हवा के झोंके देखने पर उनका शरीर भी कपड़े की भाँति उड़ हवा ही के साथ मिल जाना चाहता था। फिर किसी गम्भीर ध्वनि (जैसे शंख) को सुन उनका शरीर पत्थर की तरह स्थिर हो जाता था। श्री श्री माँ के ख्याल में जब भी किसी भाव की क्रीड़ा आती तो उसी के अनुरूप क्रिया होने लगती तथा समस्त देह में व्यापक रूप से प्रकाशित हो उठती।

एक बार बच्चों के हँसी-खेल में साथ देते हुए माँ ने जो हँसना शुरू किया तो एक घण्टे तक अनेक चेष्टा करने पर भी वह रुकीं नहीं। दो-एक मिनट चुप हो जातीं फिर हँसना आरम्भ कर देतीं। बैठी एक भाँति ही रहीं किन्तु मुख और नेत्रों में असाधारण भाव था। सब लोग यह अवस्था देख डर गये। पीछे अपने आप ही प्रकृतावस्था में आ गयीं।

एक बार माँ ढाका से क़लकत्ते जाने लगीं। स्टेशन पर लड़के-लड़कियाँ, स्त्री, पुरुष दर्शन के लिए आये और उन्होंने रोना आरम्भ कर दिया। माँ ने भी उन लोगों के साथ योग देते हुए समस्त अंगों को उलट पुलट करते हुए जो रोना शुरू किया तो उन्हें चुप कराना ही कठिन हो गया। स्टेशन पर जो अन्य लोग थे वे कहने लगे शायद लड़की बाप के घर से बिदा हो रही है। वह रुदन १२ बजे जो शुरू हुआ तो संध्या तक धीरे-धीरे कम हुआ।

एक दिन माँ ने मुझसे पूछा, तुम लोगों के हँसने, रोने का केन्द्र, कहाँ है ?" मैंने बताया कि यद्यपि हँसने-रोने का प्रवाह तो

मस्तिष्क ही से उद्भूत होता है किन्तु केन्द्र हृदय ही है। माँ ने कहा, "नहीं, यदि हँसने-रोने में प्रकृत भाव हो तो उसका प्रकाश सर्वाङ्ग में ही होता है।" मैं इस बात का मतलब नहीं समझा, चुप हो रहा। कुछ दिन बाद एक दिन बहुत सबेरे आश्रम गया। माँ से मिलने पर पूछा, खू.....ब.....अ....अच्छी हूँ.... ।" इस बात से तीव्र स्पन्दन से मैं चलते-चलते रुक गया, मेरे सिर से पैर तक एक अद्भुद भाव नाच उठा। यह देख माँ बोलीं, "क्यों रे! समझा, हँसी का केन्द्र यहाँ है? शरीर के किसी भी अंग में कोई भाव केन्द्रित रहे तो उसे पूर्ण भाव नहीं कह सकते।"

श्री श्री माँ के मुख से ही सुना है कि जब साधक एकाग्रचित्त हो ईश्वर का ध्यान करता है तब बाह्य जगत् के विपरीत भाव स्पन्दन उसकी भावधारासे टकरा कर वेदना उत्पन्न करते हैं। ऐसे समय पशु पक्षी वृक्ष लता तक का आघात होने से उसका स्पन्दन साधक के मन को व्यथित कर देता है। दूसरों के कलह और आनन्द उत्सवादि की तरंगें भी ईश्वर योग तल्लीनता में आघात पहुँचाती हैं।

जब तक साधक के बहिर्जगत् के संस्कार प्रबल रहते हैं तब तक उसे ऐसा लगता है कि उसकी ज्ञानेन्द्रियों से सम्बद्ध सभी कुछ उसके 'अहंभाव' के ही अन्तर्गत है। इसलिये पेड़ का एक पत्ता गिरने से भी उसका चित्त उसके स्पन्दन से काँप उठता है। श्री श्री माँ के स्वयं प्रकाशित कर्मों के प्रथम उन्मेष के समय भी उनमें उसी के अनुरूप भाव के प्रकाश की बात सुनी गयी है।

महाभाव के बाद श्री श्री माँ जब अपनी प्रकृतावस्था में आ जाती थीं तब उनके शरीर में अनेक प्रकार की योगक्रियाएँ

स्वयं प्रकाशित हो उठती थीं। उस अवस्था में उनके शरीर से पहले एक अस्पष्ट ध्वनिगुञ्जन सुनाई पड़ता था। इसके कुछ देर बाद आँधी के तीव्र थपेड़ों से आन्दोलित समुद्र के तरंग-प्रवाह के समान छन्दोबद्ध देवभाषा में स्वयं प्रकाशित सत्यवाणी अत्यन्त मधुरता के साथ अविरल बह निकलती, तब ऐसा प्रतीत होता मानो महाव्योम की समस्त रागरागिणियों की अपूर्व झंङ्कार ले सत्य का स्वरूप वाणी रूप में मूर्तिमय हो उठा है। इतना विशुद्ध उच्चारण, स्वरचित छन्दों का ऐसा मर्मस्पर्शी प्रवाह, उनके मुख की ऐसी निर्मल पावन ज्योति हजार चेष्टा तथा तपस्या करने पर भी पण्डितवर्ग ला सकें, इसमें सन्देह है।

इस स्वतः प्रकाशित वाणी का अर्थ गौरव देख विद्वन्मण्डली भी स्तम्भित हो गयी। वह भाषा सबकी समझ में नहीं आ सकती इस कारण लिपिबद्ध करना असम्भव है। इस प्रकार के केवल चार सूक्त इस अध्याय के अन्त में दिये गये हैं।

इनके संशोधन के लिए एक बार मैंने माँ से कहा था। उन्होंने कहा "यदि होना होगा तो समय आने पर हो जायगा, इस समय तो कुछ ख्याल में नहीं आ रहा है।" परवर्ती चार सूक्तों में से एक का अर्थ कुछ वैदिक भाषा के पण्डितों ने किया था, वह उसके नीचे पादटीका में दिया है।

इस एक सूक्त के अर्थ से प्रतीत होता है कि श्री श्री माँ की भावमयी देह ने जगत् के कल्याण, शान्ति और उन्नति के लिये वाणी रूप में आत्मप्रकाश किया है। अपने प्राणों का पूर्ण आवेग संसार-ताप-नाशक करुणा-स्निग्ध जननी का वात्सल्य जीव-

हित के लिए विश्व भर में विस्तार कर वह विश्वजननी के रूप में विराज रही हैं।

इन सब सूक्तों के प्रसंग में माँ से सुना है "शब्द ही जगत् का आदि कारण है, नित्य शब्द व सद्वाणी के क्रमविकास और विवर्तन के साथ ही साथ सृष्टि का विकास और विवर्तन होता चलता है।" ऐसे समय माँ की वाणी कभी तीक्ष्णधार की तरह पैनी और तीव्र, कभी संध्या की समुद्री वायु की तरह स्निग्ध, कभी पूर्णिमा की मध्यरात्रि के समान गम्भीर और प्रशान्त है। इसके साथ ही साथ उनकी दृष्टि तथा मुखभंगी में भी भावविकास के अनुसार परिवर्तन होता चलता है।

कभी-कभी इन सूक्तों के स्फुरण के साथ उनका अविरल अश्रुविमोचन, अलौकिक उज्ज्वल हास्य की दीप्ति अथवा बादल और धूप की आँखमिचौनी की तरह हँसने और रोने का भाव उनकी करुणामयी मूर्ति को स्वर्गीय विभूति द्वारा दिव्य और मधुर बना देता था। इन सब वाणियों के प्रकाश के बाद माँ अनेक क्षण मौन रह कर धीरे-धीरे अपनी स्वाभाविक अवस्था में आती थीं, किसी-किसी दिन तो बिलकुल निश्चल तथा निस्पन्द-सी पड़ी रहती थीं[१]।

एहि भावनायं भायं एहि यं सं तानि तायम्
भावमयं भवभयहरणं हे।
यस्मिंस्त्वहं भाग पौं हं वां ह्रीं आं हे
भां हां हिं हौं हं हीं वं लं यं सं त्वम्

---

१. श्री श्री माँ के भावोन्माद का एक चित्र इस अध्याय में है।

तादरौ भाग सं वं लं हे देव भक्तमयं मम हे
स त्वं हि हं यं वं वायं कं भावभक्ति······भावमयं हे ।
महात्मायं भवभयं हर हे
दैवतं मयं मे सं तं ह्रीं मत्तस्त्वम् भवोऽयम्
यस्तानि त्वं तारणमयम् भवभयनाशं भावय हे
स्वभावशरणगतम् प्रणवजासनम्
भवानीभवं भवभयनाशनं हे,
हरशरणागत·········तायं
विभावत ममायनं हे ।
यस्तारणं तत्र द्वयरूपं मयाहि सर्वाणि स्वरूपमयानि
मयाहि सर्व मयाहि सर्वशरणं हे ।
दास नित्य·········प्रणवश्रुतकारणं
महामाया महाभावमय मय हे ।
मम भो भक्तौ तरणं मा मम सर्वमयं हे
यस्या रुद्ररुद्र त्वं प्रणवे रां ॠं कृतकारणं रुद्रं नौमि ।
प्रां वां हां सां आ हिं अं
भावमयं हे·········संसृष्टः केशवः ।।[१]
नामः स्मरणं सर्व्वः छत्तम्,

---

१. इस स्तोत्र में व्यवहृत कुछ प्रचलित बीजमन्त्रों का अर्थ यहाँ दिया जाता है । इस स्तोत्र को हिन्दी तथा संस्कृत व्याख्या "मातृदर्शनम्" नाम से श्रीमान् सोलन-राजपण्डित महामहोपाध्याय मथुराप्रसाद दीक्षित जी ने प्रणयन की है । यह पुस्तक काशी आश्रम में मिलती है ।

(२)

सविनय मय भवतः
य समेदनामं सर्व भूतेसी समन्वयेः
सर्वं स्वरूपे नित्यं अनित्यं ममः ।
स्वम्भवया न सिंहं, शंकर सविस्मये नमः न स्वयम्;
नः मिव भवसिंहं संचित मादने स्वय स्मिति स्मृति;
र विपरनमं भवः तमाहम् ।
माया विभित मादने छरने में स्वहम्
छ पिपातने मातंगं साहारणम्
रंजितं शोभिवतः मिजने जानम्
र तिन वेत्तः वेदनं मिदाहनं स्वपिप सार नमेः
छ तिन माहं स्वपिपा सनमम्
रोग कान्ति तिन में स्वहम्
यः विव मातयेः ।

लं---पृथ्वी, विमला, वेदार्थसार, नारायण ।

यं—वायु, काली, पुरुषोत्तम, चामुण्डा, युगान्तश्वसन ।

वं—वरुण, विष्णु ।

तं—हरि ।

अं—आकाश, सर्वेश ।

आं—नारायण, अनन्त ।

सं—हंस, अगद्बीज, सोहम्, परमात्मा ।

यं तारिणी यत् सवे सम यौ तिपारितं हस्ते संस्ते जगम् ।
रूपादित्यं करुणे रौद्रस्य रूपकारस्मि छन्ते निंमित नमं ।।
आः इः उः हं सं रं लं यं सं हं हं ऋं क्रीं अं गं गं गं ।
रां रां रां रोम् रोम् रोम् । द्रवे दित्यं शान्त शिषेस्ये स्थानित्यम् ।।
रिंपु कारणं महामाये आलक्तिललं गाः गिः सं स्तेजस्मि ।
अग्ने पित केन्तनं आं दं पिं आः सः वित्रदय नः सौः रितीः ।।
अं, शं, सां, ह्ां, ह्ां ·····ह्रीं ह्रीं धनमेदित्यः अहम् स्ते जगम् ।।
आं आं इं ईं ····ॐ स्तेजस्य स्वर वर्णेषु शान्ति सेवतं इत्व निराहारम् ।।

हं—परमात्मा, हंस, शिव ।

हौं—प्रसादाख्य शिवबीज ।

ऋं—रुद्र, महारौद्री ।

कं—महाकाली, कामदेव, वासुदेव, अनन्त ।

क्रीं—शक्तिबीज, कालीबीज ।

ह्रीं—ताराबीज, भुनेश्वरीबीज, मायाबीज ।

भां—अनन्त विश्वमूर्ति ।

२० वैशाख, १३३६ बंगाब्द में श्री श्री माँ आनन्दमयी नव प्रतिष्ठित रमना आश्रम में २४ घण्टे मात्र ठहरकर हठात् भक्तों से विदा लेकर एक वस्त्र से निकल पड़ीं । उस समय भावावेश में स्वतः ही एक स्तोत्र माँ के श्रीमुख से निकला । उस स्तोत्र के कुछ अंश दुहराने पर माँ ने लिखने की अनुमति दी थी । किन्तु आवेशजड़ित कण्ठ से निर्गत उस स्तोत्र का थोड़ा ही अंश लिखा जा सका

समिदेः यं पुराणिता अन्ये पे ऋक् ॐ अर निरात्रित्वं यशमेदि पुराणे लभिदा दमने दात्तां रक्षकं मया सितं जनमे शान्ति स्वरूपिणी विद्या रुद्रात्तनमे अन्नपूर्णा सन्निदत्ता यशवेदा विह्वलां स्मरणे स्मरणान्वितं ॐकारस्य समेशं यस्त्वात्तनमे क्रीं रम् ।

शान्ति अभवा विभूषितम् !!!

और जो भी लिखा गया है वही ठीक है, यह भी नहीं कहा जा सकता । उन्होंने इस असम्पूर्ण तथा भ्रमपूर्ण स्तोत्र को कीर्तन से पहले बाजे पर गाने की अनुमति दी थी । नीचे उस स्तोत्र का मर्म्मानुवाद यथासम्भव दिया गया—

तुम ज्योति स्वरूप, विश्व के भावनायक, तुम आविर्भूत हो । तुम ही से समस्म सृष्टि जाल फैला हुआ है, तुम्हीं भवभय-हारी हो, तुम अवतीर्ण हो जाओ । तुम सृष्टि के बीजरूप हो, तुम्हीं वह आदि पुरुष हो जिसमें मेरी स्थिति है । ये जो मेरे भक्त हैं उनमें भी तुम ही विराजित हो । तुम को प्रत्यक्ष देख रही हूँ, तुम भवभय हरण करो ।

हे सब देवमय ! मुझमें ही तुम तथा मैं ही विश्वजगत् हूँ । जो तारणमय इस समस्त सृष्टि का अधिष्ठान है उसी भवभय नाशकारी का ध्यान करो तुम नित्य अपने ही भाव में स्थित हो । प्रणव अर्थात् वेदों के तुम्हीं प्रतिष्ठा हो । तुम समरसस्वरूप नाद-विन्दुरूप कामकामेश्वरीरूप दिव्य मिथुन हो । तुम भव-भय का नाश करो । मैं तुम्हारी शरणागत हूँ, तुम्हीं मेरे आश्रय हो, तुम मुझे अपने में आकर्षित कर लो । तारक के रूप में तुम्हारे दो रूप हैं—मोक्षदाता तथा मोक्षकामी जीव । मेरे ही द्वारा सबका स्वरूप है । मुझसे ही सब तथा मुझमें ही सब प्राणियों की प्रतिष्ठा-भूमि है । मैं ही प्रणवोपदिष्ट कारण हूँ, मैं ही महामाया और महाभावमय हूँ । मेरी भक्ति ही मुक्ति का हेतु है । सभी मेरे हैं । मेरे द्वारा ही रुद्र का रुद्रत्व अर्थात् शिव का शिवत्व है वही मैं कार्यकारणात्मक शिव की स्तुति करती हूँ ।

ॐ स्वस्ति, ॐ स्वस्ति, ॐ स्वस्ति
श्रद्धार्थनं शंकट उवाच
नैसृंह उग्गता नमे
नरो रूप भ्रमन्वये:
संस्तिचं भ्रूतपाः महत् मायायाम्
ष्टसना रुद्रं पियास्व मे ।[१]

●

---

१. जब मैं सहसा ही आकुल तथा व्याकुल हो छटपटाया करता था तब सहसा एक दिन माँ के श्रीमुख से यह श्लोक निःसृत हुआ । सुबह-शाम इसको पाठ करने का आदेश मिला ।

योग-विभूति

माँ ने बताया कि उनकी कुछ दिनों के लिये ऐसी अवस्था हुई थी कि उनके शरीर में शास्त्र-निर्दिष्ट अनेक शासन, बन्ध तथा मुद्राएँ स्वयम् प्रकाशित होती थीं। अधिकांश समय यह योग-विभूति जनता के समक्ष नहीं हुई। इस सम्बन्ध में माँ ने कहा था, "जिस प्रकार बीज अंकुरित होने से पहले उसको मिट्टी से दबा कर अंधेरे में रखना होता है उसी प्रकार जीव की साधनावस्था में भी उसके प्रत्यक्ष कर्मों की ओट में अप्रत्यक्ष रूप से अनेक परिवर्तन होते रहते हैं।"

कभी-कभी उनके हाथ, पैर, सिर इस तरह तिरछे टेढ़े हो जाते थे और ऐसा लगता था कि फिर वे सीधे नहीं हो सकेंगे। माँ बतातीं कि, "कभी-कभी मेरे शरीर से ऐसी ज्योति निकलती कि उससे चारों दिशाएँ ज्योतिर्मय हो जाती थीं। ऐसा लगता कि वही ज्योति मानो समस्त विश्व को प्रकाशित कर रही है।" ऐसी अवस्था में वे समय-समयपर अपने शरीर को कपड़े से ढक एकान्त में पड़ी रहती थीं।

ऐसे समय उनके शरीर से ऐसी अलौकिक शक्ति का आविर्भाव होता कि उनकी दृष्टिमात्र से मनुष्य आत्मविस्मृत से हो उठते तथा कोई-कोई चरण छूने से मूर्छित हो जाते थे। उस समय माँ जिस-जिस जगह बैठतीं या लेटतीं वह स्थान अग्नि की तरह गर्म हो जाता।

ढाका में मैंने स्वयं श्री श्री माँ के अनेक प्रकार के आसन देखे। कभी-कभी माँ की श्वास-क्रिया इतनी जल्दी-जल्दी होती थी कि मुझे आशंका होने लगती कि कहीं माँ का दम न अटक जाय। कभी-कभी श्वास-प्रश्वास की क्रिया एकदम लुप्तप्राय हो जाती। एक बार कुछ आसनों की तस्वीरें माँ को दिखायी गयीं। उनमें कुछ को देख कर माँ ने कहा इनमें सिर तथा उरु की स्थिति ठीक नहीं हुई है।

जिन लोगों को उनके साथ रहने का सौभाग्य हुआ है, उनमें से अनेक ने ही देखा है कि माँ बहुत देर तक बिना किसी उद्वेग के एक आसन पर ही बैठी रहती हैं; कभी-कभी बात करते-करते एकदम चुप हो जाती हैं। घण्टों बीत जाते हैं उनका शरीर प्रायः स्थिर ही रहता है। दृष्टि भी शान्त, स्निग्ध और स्थिर हो जाती है। उनकी सब अवस्थाओं ही से यह प्रतीत होता है कि उनका अन्तर हर समय किसी विराट आनन्द में डूबा रहता है। शारीरिक क्रियाएँ उनके लौकिक व्यवहारमात्र हैं। अनेक समय देखा गया है कि सरदी-गरमी का बोध, खाने-पीने का ख्याल उन्हें स्मरण कराने पर होता है। स्मरण कराने पर स्वाभाविक भाव जाग्रत नहीं हो पाता। कभी-कभी मैंने स्वयं देखा है कि बहुत दिनों तक एकमुखी भाव रहने से बोलने, चलने, हँसने यहाँ तक कि खाने-पीने में भी भूल हो जाती है। कोई-कोई पूछते हैं कि श्री श्री माँ की किसी विभूति का क्या कोई दृष्टान्त है? जिनके जीवन का प्रतिमुहूर्त विभूतिमान है; जिनके चिरकल्याणमय स्पन्दन से ही शुष्क प्राण सरस हो उठें, जिनकी स्वतः स्फुरित इच्छाशक्ति के प्रभाव से अलक्ष्य रूप में प्राणियों की चित्तवृत्ति अध्यात्मपथ की

ओर अग्रसर हो उठे, उनकी किसी भी विभूति का परिचय न देकर मैं उन लोगों से कहता हूँ कि कुछ दिन माँ का संगलाभ कर स्वयम् ही उनकी विभूति का अनुभव कर कृतार्थ हों।

मैं और निरञ्जन[१] एक दिन शाहबाग गये। माँ और पिताजी बैठे थे, माँ के सामने कुछ चित्र जमीन पर खिंचे हुए थे। पिताजी ने बताया, "तुम्हारी माँ ने षट्चक्र खींचे हैं।" माँ कहने लगीं, "आज दोपहर को मैं घूमते फिरते सहसा इसी जगह आसन में बैठ गयी। ब्रह्मतालु से नासिका की सीध में मेरुदण्ड के आखिर तक अपनी अंगुलियों से (कहीं तीन उँगली, कहीं चार उँगली के -अन्तर पर) नापने लगी तो ऐसा लगा कि इन-इन स्थानों पर एक-एक ग्रन्थि है।" मैंने देखा कि मूलाधार के ऊर्ध्व की ओर क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर अनेक ग्रन्थियाँ हैं, जिनमें से कुछ प्रधान हैं वही इस जगह अङ्कित हैं, मैंने स्वेच्छा से नहीं खींचा है, मेरा हाथ अपने आप घूम कर यह चित्र बन गये। याद रख, इन सब ग्रन्थियों तथा नाड़ियों के संयोग-स्थान से रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि सम्भूत मनुष्य के जन्म मृत्यु के संस्कार आबद्ध हैं। वायु और प्राण-रस इनमें से ही कहीं तीव्र गति तथा कहीं मंथर गति से वायु प्रवाहित हो मनुष्य के कर्म और भाव को सञ्चालित करते हैं। जिस प्रकार पृथ्वी के ऊपर जल, जल के ऊपर तेज, तेज के ऊपर वायु एवं वायु के ऊपर महाकाश है उसी प्रकार मनुष्य के शरीर में भी एक-एक कर पाँच केन्द्र व्याप्त हैं। तनिक चिंतन करके ही समझ सकेगा कि जब मन का भाव पवित्र एवं

---

१. इनकम टैक्स असिस्टेण्ट कमिश्नर।

आनन्दपूर्ण रहता है उस समय प्राणवायु ऊर्ध्वमुखी होती है। जिस प्रकार तालाब के तलदेश में जल का उद्गम है, वृक्ष की जड़ में प्राणरस का आकर्षण-केन्द्र है उसी प्रकार मनुष्य के भी मेरुदण्ड के निम्नतल में जीवनशक्ति का आदिस्वरूप एक महाशक्ति सुप्तावस्था में है। श्रद्धा और धैर्य के द्वारा बहिर्मुखी एवं अन्तर्मुखी शुद्ध क्रिया का स्पन्दन वायु द्वारा सञ्चारित हो जब प्रधान-प्रधान नाड़ियों को मथित करता है तब मूलाधार बद्ध शक्ति उन्मुख हो एक-एक ग्रन्थि का भेद करती हुई क्रमशः जितनी ऊर्ध्वमुखी हो उठती है उतनी ही साधक की जड़ता तथा संस्कारों का ह्रास होता जाता है। इस ग्रन्थि भेद के साथ ही साथ बाह्य संसार के रूप रसादि के प्रति आसक्ति का संस्कार शिथिल होता जाता है। इस ऊर्ध्वगामी शक्ति के भ्रूकेन्द्र पर पहुँचने पर (प्राण) वायु की गति सर्वत्र सरल और विशुद्ध हो जाती है। तब साधक—"मैं कौन हूँ? जगत् क्या है? सृष्टि क्या है? आदि स्वरूपों का कुछ-कुछ अनुभव करने लगता है। ऐसी अवस्था आने पर संस्कारों का मूलोच्छेद होता है तथा ध्यानादि की गति ऊँची से ऊँची कक्षा में चढ़ती जाती है। अन्तिम स्तर पर पहुँचाने पर साधक महाभाव में लीन हो जाता है अर्थात् स्वरूप स्थिति लाभ कर समाधि-भूमि पर शान्तिलाभ करता है। इन सब ग्रन्थियों के खुलने के साथ-साथ पहले पहल साधक अनेक प्रकार के शब्द सुना करता है, कभी-कभी उसे ऐसा प्रतीत होता है कि शंख और घण्टे की ध्वनि के समान शब्दों की ये तरंगे विश्वव्यापी महाध्वनि के सागर में मिल रही हैं, उस समय बाहर की कोई चीज तथा भाव उसके चित्त को सहज ही में आकर्षित

नहीं कर पाते । साधक जितना ही अग्रसर होता जाता है उतना ही उस महाध्वनि के अमृत-प्रवाह की ओर बढ़ता चलता है, अन्त में उस महाध्वनि की अतल गम्भीरता में उसका चित्त अखण्ड स्थिति लाभ कर लेता है ।"

श्री श्री माँ के इस कथन के प्रायः दो तीन साल बाद मैं John Woodroffe की Serpent Power नामक पुस्तक से 'षट्चक्र' की तस्वीरें माँ को दिखाने ले गया । माँ ने उस ओर विशेष लक्ष्य न कर हँसते-हँसते मुझसे कहा "मैं जो कह रही हूँ वह सुन ।" वे प्रत्येक चक्र के पद्म का दल संख्या, यन्त्र, बीज, वर्णादि बताने लगीं । मैंने देखा कि माँ की बतायी हुई सभी बातें चित्रों के साथ मिल रही हैं । माँ ने कहा "मैंने किसी पुस्तक अथवा किसी व्यक्ति से ये बातें नहीं सुनी हैं, प्रसङ्गवश आप ही प्रकाशित हो गयी हैं ।" माँ से और पूछने पर माँ ने कहा, "तस्वीरों में जो रङ्ग देख रहे हो, वह बाहरी सज्जा मात्र है । हम लोगों का शरीर मज्जा आदि जिन वस्तुओं द्वारा गठित है चक्र भी उसी से बने हैं, अन्तर केवल इतना है कि बाहर की ओर से नाभि, आँख, कान, हाथ की रेखाओं में जैसे विशिष्टता है उसी प्रकार चक्रों के गठन भी विभिन्न हैं, वायुगति तथा प्राणशक्ति-जनित रसप्रवाह द्वारा विविध रङ्गों का खेल, बीजादि की मूर्ति एवं ध्वनि वहाँ लक्षित होती है । श्वास-प्रश्वास के संग जब पहले पहल बीज आदि बाहर होते थे तो ख्याल उठता था कि ये सब क्या हैं ? उसी समय अपने ही मुख से प्रत्येक के सम्बन्ध में उत्तर पाती और स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष हो उठता कि किस-किस स्थान पर क्या-क्या है । उस समय प्रत्येक चक्र का रचना-वैचित्र्य तेरी इन

सब तस्वीरों की तरह ही देखा। उपासना, पूजा, कीर्तन, ध्यान, तत्त्व-विचार और यौगिक क्रिया एकनिष्ठ भाव से होते-होते अपने आप ही चित्तशुद्धि और भावशुद्धि होने से ये सब ग्रंथियाँ खुल जाती हैं। अन्यथा मनुष्य इस काम-क्रोधादि के चक्र से छुटकारा ही न पाता।"

एक दिन माँ सब लोगों को साथ लेकर ढाका की सिद्धेश्वरी पीठ गयीं। यह स्थान तब उपेक्षित ही था। वहाँ आधा हाथ ऊँची तथा सवा हाथ लम्बी चौकोर एक वेदी थी। माँ उसके ऊपर आसन लगा बैठ गयीं। भक्तवृन्द चारों ओर बैठे थे। इसी बीच में देखा कि माँ ने आसन की छोटी सी ही जगह में अपने को ऐसे संकुचित कर लिया कि सबको मालूम होने लगा मानो आसन के ऊपर माँ का केवल परिधेय वस्त्र ही पड़ा है। माँ तो दिखाई भी नहीं दे रही थीं, सभी उत्सुक हो देख रहे थे कि अब क्या होगा! धीरे-धीरे हिलना-डुलना आरम्भ हुआ और धीरे-धीरे वेदी पर माँ सीधी होकर बैठ गयीं। प्रायः आधे घण्टे तक स्थिर दृष्टि से ऊपर की ओर देखती रहीं, फिर सहसा बोलीं "अपने ही काम के लिए इस शरीर को तुम लोग यहाँ लाये हो।"

माँ ने कहा, "कागज की पतङ्ग जिस प्रकार एक तागे के सहारे हवा में उड़ती है। उसी प्रकार योगियों का शरीर श्वास और संस्कार के बल पर शून्य में उठना, सूक्ष्म होना, बृहत् होना, अदृश्य होना आदि अनेक प्रकार के खेल कर सकता है।" सुना है कि किसी-किसी को स्वप्न में माँ के मुख से मन्त्र मिला है तथा कभी मन्त्र के साथ फूल भी मिला है और जागने पर देखा भी है।

माँ को कभी किसी को दीक्षा देते नहीं देखा गया है। अनेक के मुँह से सुना है कि माँ कहीं अन्यत्र होते हुए भी सहसा अपने घर में थोड़ी देर के लिए माँ के प्रत्यक्ष दर्शन पाकर वे चौंक उठे।

मेरी भयानक बीमारी के समय माँ कुछ महीनों तक उत्तर-प्रदेश में थीं। ढाका लौटने पर एक दिन माँ ने मुझसे कहा "मैं दो दिन आधी रात के समय तेरे कमरे के इस दरवाजे से आ दूसरे से चली गयी थी, तब तू रोग से खूब ही तड़प रहा था।" मेरी बीमारी बढ़ने पर रात में डाक्टर को बुलाया जाता था। खर्च की बही मिलाने पर देखा गया कि माँ की बताई हुई उन दो रातों को ही डाक्टर आया था। अनेक बार ऐसा भी हुआ कि बहुत से आदमी बैठे हुए हैं, और वे सबके सामने ही आ जा रही हैं और कोई देख नहीं रहा है। माँ कहती हैं "मैं तो तुम लोगों के साथ ही रहती हूँ, तुम देखना नहीं चाहते तो मैं क्या कर सकती हूँ? तुम याद रखो कि तुम चाहे दूर हो या पास, चाहे कुछ भी कर रहे हो हर समय मेरी एक दृष्टि तुम लोगों पर है।"

एक बार गोआलन्द स्टेशन से माँ गाड़ी पर बैठने वाली थीं, प्लेटफार्म से गाड़ी का दरवाजा बहुत ऊँचा था। बहुत दिनों से मां का दाहिना हाथ बेकाम सा था। माँ के आदेश से ब्रह्मचारिणी गुरुप्रिया ने माँ का बायाँ हाथ पकड़ कर गाड़ी में चढ़ाया। उन्होंने बताया, "मुझे ऐसा लगा मानो किसी बच्चे को उठा रही हूँ।" कभी-कभी माँ को खूब भारी होते भी देखा गया है।

माँ कहती हैं कि उनका चलना बैठना सब ही समान है, वह सदैव ही जाग्रत रहती हैं। यह बिलकुल सच है। क्योंकि देखा

गया है कि कभी-कभी बिस्तरे पर से उठते ही माँ कहती हैं, "मैं अभी उस जगह से आयी हूँ, वहाँ यह हुआ था।" पीछे उसकी सत्यता का प्रमाण मिला है।

मैंने अनेक समय माँ को बिजली की चमक की तरह सहसा एक प्रकाश अथवा छाया-मूर्ति के समान अपने समीप देखा है। कभी-कभी भाव घनीभूत होकर अनेक प्रकार के खेल करता था, अधिकांश समय ही वह सब सच होते थे।

१९३० ई० के अन्तिम भाग में माँ ढाका से लगभग ३०० मील की दूरी पर काक्स बाजार में थीं। मैं ढाका में सुबह बिछौने पर उन्हीं की चिन्ता कर रहा था। कान के पास धीरे-धीरे एक आवाज आयीं, "शीघ्र ही आश्रम में मन्दिर की व्यवस्था कर।" सुनते ही मैं चौंक उठा। मैं जानता था कि माँ किसी को भी सीधी तरह से कुछ आदेश नहीं देती हैं, लेकिन माँ के सिवाय इस प्रकार का आदेश कौन दे सकता है। ऐसा होने पर इतना अस्पष्ट क्यों ? काक्स बाजार चिट्ठी डाल कर पता लगाया कि इधर कई दिन से माँ मौन थीं, उस दिन ही सुबह आठ बजे माँ ने मौन के पश्चात् कुछ कहा था। बाद में माँ के ढाका आने पर मालूम हुआ कि उस दिन सुबह ही माँ ने बात करना आरम्भ किया था; किन्तु कोई भी स्पष्ट नहीं समझ पाया था। मंदिर के निर्माण का आयोजन तभी से प्रारम्भ हुआ।

मृत साधु पुरुषों तथा अन्य अनेकों की आत्मा को माँ प्रायः ही देखती हैं। माँ कहती हैं, "मेरे सामने जैसे तुम लोग बैठे हो वैसे अनेक अशरीरी भी बैठे हैं।"

माँ कहती हैं, "किस रोग की क्या मूर्ति है यह भी देखती हूँ। इस शरीर में जब वे प्रवेश करना चाहते हैं तो मैं कोई बाधा नहीं देती। जब एक मैं ही सब कुछ कहूँ तो त्याग और ग्रहण का तो प्रश्न ही नहीं उठता। तुम लोगों के साथ जो आनन्द है वही उनके साथ में भी।"

१९२९ ई० मई के महीने में माँ ने ढाका छोड़ दिया किन्तु अनेक कारण वश उनके स्वाधीन पर्यटन में बाधा पड़ी। अगस्त के महीने में ढाका लौट आने पर एक दिन माँ को ज्वर हो आया। शरीर में अनेक प्रकार की अस्वाभाविक क्रियाएँ होने लगीं। माँ ने आदेश दिया कि शरीर को उसकी स्वतः स्फुरित गति के अनुसार उठाओ, बैठाओ तथा लिटाओ। प्रायः एक घण्टा उसी प्रकार किया गया। माँ ने बताया कि ये सब शारीरिक क्रियाएँ यौगिक आसन थे। यह सब देख उनके जीवन की ओर से सब शंकित हो उठे। बाद में देखा गया कि उनके सब अंग बेकाम हो गये हैं, उठते-बैठते यदि कोई न पकड़े तो शिथिल गिर पड़ते हैं। ज्वर के साथ सूजन, पेट में दर्द, रक्त दस्त तथा प्रस्राव चल रहा था। इस प्रकार कुछ दिन बीतने पर एक दिन ब्रह्मचारिणी गुरुप्रिया ने कहा, "माँ कृपा करो, तुम्हारा शरीर हम चला ही नहीं पा रहे हैं।" इसके बाद शरीर में जो शून्न भाव था वह तो कम हो गया किन्तु ज्वर वैसा ही रहा। माँ के आदेशानुसार पाँच छः दिन तक रोज ११ बजे से ५ बजे तक ६० अथवा ७० बाल्टी जल माँ के सिर के ऊपर डाला जाता, फिर भी ज्वर का ताप कम नहीं होता था। दवा कुछ नहीं ले रही थीं। एक दिन संध्या के समय ढाका के एक प्रसिद्ध वैद्य माँ को देखने आये। वह कहने लगे; "हमारा शास्त्र

मनुष्यों के रोगों का निदान बतलाता है । इनके तो सभी स्वतंत्र हैं ।" इतने लम्बे समय तक माँ को बीमार देख सभी कातर हो माँ के स्वस्थ होने की प्रार्थना करने लगे । इसके दूसरे दिन सुबह ही माँ बोलीं, "पथ्य का प्रबन्ध कर ।" जो स्वयं कफ और ज्वर के वेग से १७,१८ दिन से बिस्तर में पड़ी थीं, उन्हें स्वयं अपने पथ्य की व्यवस्था करते देख सब अवाक् थे, जो हो, आदेशानुसार दाल, चावल, तरकारी तैयार की गयी, तीन चार भक्तों ने माँ को चारों तरफ से पकड़ कर पथ्य कराया । थोड़ी-थोड़ी सब चीजें खायीं । ज्वर के बाद ऐसा पथ्य देख अनेक ही घबड़ा गये । किन्तु इसके बाद ही माँ की अवस्था सुधरने लगी ।

इस प्रकार की शरीर की विकृति के प्रसंग में माँ ने बताया था, "यदि कभी भी मेरे सहज कामों में यह शरीर बाधा पाता है तो उस बाधा के फलस्वरूप क्या हो सकता है, यही बताने के लिए ये सब विकार दिखाये । यदि वास्तव ही में रोगिणी होती तो यह शरीर एकदम ही जड़वत् हो जाता अथवा प्राणवायु ही शरीर को छोड़ देती ।

"शय्यागत अवस्था में मुझे किसी भी रोग या असुविधा का बोध नहीं था । स्वस्थ होने पर जिस प्रकार विस्तर पर लेटी रहती हूँ ठीक वैसे ही तब भी थी । मेरे शरीर के विकार तथा तुम लोगों की घबड़ाहट देखकर ऐसा लगता मानो यह भी एक आनन्द का अपूर्व कीर्तन चल रहा है ।"

श्री श्री माँ के कार्य-कलाप देख ऐसा लगता है मानो प्रकृति भी इच्छानुकूल चल रही है । इससे यही प्रतीत होता है कि उनकी इच्छामयी शक्ति के स्वाभाविक स्फुरण की ओर लक्ष्य रख कर

चलने से अपनी व्यक्तिगत इच्छा अथवा अनिच्छा के द्वन्द्व में न पड़कर उनके आदेश पालन करने से श्री श्री माँ की विश्वमयी इच्छाशक्ति के अलौकिक खेल में हम कितना आनन्द पाते तथा उन्नत होने के कितने सुयोग हमारे अदृष्ट में मिलते जिनकी सीमा नहीं है। बचपन में हम लोग जैसे अपने इच्छानुसार गुड़िया लेकर खेलते हैं, घरौंदे बनाकर आनन्द प्राप्त करते हैं तथा इसी प्रकार के रोज नये खेलों में मत्त हैं—ऐसी आशंका कभी-कभी मेरे मन में उदय होती है।

विन्ध्याचल आश्रम[१] में कथा प्रसंग में श्री श्री माँ एक दिन ब्रह्मचारी श्रीमान् कमलाकान्त से बोलीं, "इतने दिन हो गये किन्तु आज भी कोई यह न समझ सका कि मैं क्या चाहती हूँ। समझने पर यह प्रश्न ही नहीं उठता कि तुम क्या चाहती हो अथवा आप क्या चाहती हैं? जाने दो, जिसे जितना समझना है वह उतना ही समझेगा। समझने पर आत्मसम्मान, यश, प्रतिष्ठा, क्रोध, दुःख, अभिमान, अहम्भाव आदि का एकदम परित्याग करना होगा।"

यदि हम चुपचाप उनकी वाणी का अनुसरण कर उनके सत्य सजीव प्रभाव से अपने हृदय को निर्मल कर पाते तो शायद उस परम मातृशक्ति की सनातन विलासलीला को देखने का सुयोग पा हम भी धन्य होते तथा संसार भी धन्य होता।

---

१. विन्ध्याचल में अष्टभुजा पहाड़ के ऊपर माँ का एक आश्रम है। पूज्यपाद स्वामी अखण्डानन्द तथा तुरीयानन्द के प्रयत्न तथा अर्थसे यह प्रतिष्ठित हुआ। वहाँ आज भी अखण्ड अग्निरक्षा के लिए यज्ञकुण्ड की व्यवस्था है।

एक दिन रमना के मैदान में घूमते समय मैंने देखा कि माँ कुछ भी बोल नहीं रही हैं। तभी समझ गया कि माँ का मौनभाव जाग्रत हो रहा है। कुछ देर तक घूम-फिर कर माँ लौट आयीं। प्रायः ८, १० दिन तक चुप रहीं। इस समय इशारा, संकेत तथा हँसना सभी बोलने के साथ ही स्थगित कर दिया था। अपने ही भाव में बैठी रहती थीं, किसी से कुछ कहने सुनने पर भी उधर नहीं देखती थीं। वे एक बुद्ध प्रतिमा की भाँति लगती थीं। खाने के समय जितना आवश्यक होता मुँह खोलतीं फिर बन्द कर लेती थीं। मौनावस्था में कई एक दिन तो ऐसा लगा मानो बाहरी दुनिया से सभी सम्पर्क टूट गया है। आठ दस दिन के बाद अस्पष्ट दो बातें निकलीं। तब देख कर ऐसा लगता मानो मां फिर से शारीरिक व्यवहार करना और बोलना सीख रही हैं। इस प्रकार तीन दिन बीतने पर मां फिर से स्वाभाविक अवस्था में आयीं। मां की इस प्रकार की अवस्था देखने का सौभाग्य मुझे दो तीन बार हुआ है। उस समय उनकी स्थिर प्रशान्त मूर्ति, सौम्य दृष्टि और उज्ज्वल मुखश्री को देख भक्ति और श्रद्धा से हृदय पिघल जाता था। अपलक दृष्टि से उनकी ओर देखने पर भी तृप्ति नहीं होती थी। मां जब प्रथमावस्था में तीन बरस तक मौनी थीं तब अनेक ही उनको देखकर गूँगा समझते थे तथा दुःख प्रगट करते हुए कहते थे "विधाता का विधान। इतनी सद्‌गुण-सम्पन्ना सुन्दरी वधू को गूँगा बनाया !!"

मां कहतीं, "मौनी होना हो तो मन-प्राण एक साथ ही एक चिंता में घनीभूत कर बाहर-भीतर पत्थर की तरह हो जा। यदि केवल वाक्‌संयम ही करना चाहता है तो वह अलग बात है।"

●

समाधि-भाव

साधना की चरम अवस्था क्या है, यह पूछने पर श्री श्री माँ ने विभिन्न स्तरों की साधन अवस्थाओं के बारे में कुछ बातें कही थीं —

"चित्त-समाधान कुछ अंशों तक सूखी लकड़ी में आग लगाने के समान है। गीली लकड़ी का पानी सूखने पर जिस प्रकार धक धक करके आग जलने लगती है उसी प्रकार उपासना की एकाग्रता से जब वासना-कामना आदि का रस कम होता है तो चित्त हलका हो जाता है। उस अवस्था में किसी-किसी को भावोन्माद, विह्वलता, आवेश आदि होता है। एक परमार्थ सत्ता का आश्रय ले यह विशेष-विशेष भावावेग में प्रकट होता है।

"इसके बाद 'भाव-समाधान' होता है। जिस प्रकार दहकता हुआ कोयला; एक ही सत्ता के एक अखण्डभाव की तन्मयता में शरीर अवश होकर पड़ जाता है।"

"साधक घण्टों जड़भाव में बिता देता है और अन्तर्गुहा में भावप्रवाह अक्षुण्ण चलता रहता है। इसकी परिपक्व अवस्था में कभी-कभी एक सत्ता का आश्रय लेकर अखण्ड भाव की तरङ्ग बाहर-भीतर को एकाकार करके खेलती रहती है। इसी को भावसमाधान कहते हैं। जिस प्रकार किसी पात्र में उसकी माप से अधिक जल डालने पर वह भर कर छलकने लगता है, उसी प्रकार एक अखण्ड भाव के प्रकाश से चित्त परिपूर्ण होने के

कारण उसका भावावेग विश्वमय विराट स्वरूप में विगलित हो पड़ता है ।"

"तीसरी स्थिति का नाम 'व्यक्त-समाधान' है । जिस प्रकार जलते हुए कोयले के भीतर बाहर एक तरह की अग्नि की दीप्ति है, जीव उसी अवस्था में एक सत्ता में स्थिर हो विराजता है ।"

"पूर्ण समाधान की अवस्था में साधक के चित्त से सगुण और निर्गुण का द्वन्द्व चला जाता है "

"जिस प्रकार जलते हुए कोयले की राख की आग । साधक इस अवस्था में एक अनिर्वचनीय भाव में स्थिर हो जाता है । अन्तर बाहर का कोई भेद नहीं रहता—"शान्तं शिवमद्वैतम्" अवस्था । सब भावों का स्पन्दन इस अवस्था में लुप्त हो जाता है ।"

श्री श्री माँ का समाधिभाव एक अपूर्व दृश्य है। सौभाग्यवश मैंने ऐसी अवस्था अनेक बार देखी है । यहाँ कुछ प्रसंगों का उल्लेख करता हूँ ।

किसी दिन चलते फिरते अथवा हठात् अनजान में कमरे में आकर बैठते ही माँ के हँस-हँस कर किसी के साथ कुछ बात करते-करते दृष्टि स्थिर हो जाती एवं साधारण भाव से सब अंग शिथिल हो जाते तथा माँ अवश हो लुढ़क जातीं ।

धीर-धीरे पश्चिमाकाश में डूबते सूर्य की तरह उनके लौकिक भाव और व्यवहार तिल-तिल करके न जाने कहाँ समा जाते हैं । इसके बाद श्वास की गति धीमी हो जाती, कभी एकदम

स्थगित हो जाती, वाक्‌शक्ति बन्द हो जाती, आँखें भी बन्द हो जातीं। सारा बदन ठंडा पड़ जाता, किसी-किसी दिन हाथ पैर लकड़ी की तरह सख्त हो जाते, कभी-कभी अंग प्रत्यंग कपड़े की तरह शिथिल हो जाते, जिस तरफ मोड़ते उसी तरफ गिर जाते। मुख प्राणरस से लाल हो उठता, दोनों कपोल दिव्य आनन्द की ज्योति से उज्ज्वल हो उठते तथा ललाट पर निर्मल शान्त स्निग्धता छा जाती। देह की समस्त क्रियाएँ स्थगित हो जाती और सम्पूर्ण शरीर की रोमावलियों से अपूर्व दीप्ति निकलती। इस समय सबको ही ऐसा लगता कि माँ क्रमशः समाधि की गम्भीरता में लीन होती जा रही हैं। इस तरह से १०, १२ घण्टे बीत जाते, उनको सचेतन कराने की अनेक चेष्टाएँ होतीं किन्तु उनका कोई विशेष फल नहीं होता।

मैंने स्वयम् माँ को अनेक बार चैतन्य कराने (जगाने) की व्यर्थ चेष्टा की है। हथेलियों और पैरों के तलवे जोर से मल शरीर पर आघात या चोट करने से भी कुछ प्रतिक्रिया नहीं होती। पर प्रकृतावस्था में आने के समय आपसे चेतन हो उठतीं। बाह्य व्यवहार के ऊपर वह निर्भर न था।

जब माँ फिर से सांसारिक ज्ञानभूमि में लौटतीं, तब धीरे-धीरे श्वास की गति आरम्भ होती और क्रमशः दीर्घ हो जाती, अंग-प्रत्यंगों का हिलना डुलना स्वाभाविक गति से धीरे-धीरे आरम्भ होने लगता, किसी-किसी दिन जरा देर बाद ही शरीर फिर अवश और शिथिल हो जाता मानो शरीर फिर पूर्वावस्था में ही जाना चाहता है। आँखें खुलने पर बड़ी देर तक अनिमेष देखती रहतीं, फिर आपसे आप बन्द हो जातीं।

जब संज्ञा होने के सभी लक्षण क्रमशः दृष्टिगत होते तब उनको बिठा कर कुछ बातें करने की चेष्टा की जाती। ऐसी अवस्था में प्रायः देखा जाता कि वे बाहरी दुनिया की किसी आवाज को न सुन अन्तर्जगत् में ही लीन हो जातीं। ऐसी हालत में प्रकृतिस्थ होने में बहुत समय लगता। शरीर बहुत धीरे-धीरे स्वाभाविक अवस्था में लौटता।

एक बार ऐसा भी देखा कि समाधि के बाद उनको बड़ी मुश्किल से टहलाया गया। थोड़ा बहुत खिलाया गया, फिर संज्ञाहीन हो घण्टों पड़ी रहीं।

समाधि के बाद स्वाभाविक अवस्था में आने पर भी एक विशेष आनन्द उनके शरीर से स्फुरित होता दीखता। होश आने के पहले कभी हँसना, कभी रोना और कभी हँसना रोना दोनों एक साथ चलते। कभी मौन प्रसन्नता में विभोर रहतीं।

समाधि की अवस्था में कभी-कभी माँ का मुख निष्प्राण देह के समान पीला और निस्तेज तथा शरीर दुर्बल हो जाता था, मुख देखकर आनन्द अथवा निरानन्द का कुछ भी प्रकाश नहीं होता था। ऐसा होने पर हमेशा यह देखा गया कि समाधि भंग होने तथा प्रकृतावस्था में लौटने में बहुत समय लग गया। १९३० ई० में रमना आश्रम में आने के बाद समाधि में इस प्रकार मृतवत् अवस्था में अनेक बार देखी गयी। एक बार ऐसी समाधि में ४, ५ दिन भी बीत जाते थे। समाधि के आरम्भ से अन्त तक जीवन का कोई लक्षण ही नहीं दीखता था एवं इस प्रकार मृत-तुल्य शरीर में प्राणों का संचार हो सकता है इसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था। देह ठंडी हो जाती थी

एवं स्वाभाविक अवस्था में आने पर भी बहुत देर तक शरीर ठण्डा ही रहता था ।

समाधि भंग होने पर आन्तरिक अवस्था के सम्बन्ध में माँ से कभी कुछ पूछने पर माँ बतातीं, "सब प्रकार के कामों और भावों के पूर्ण समाधान का नाम समाधि है । यह ज्ञान और अज्ञान के अतीत की अवस्था है । तुम लोग जिसको सविकल्प कहते हो वह भी इसी चरमावस्था को पहुँचने के लिए है, उसे भी एक प्रकार की साधना ही समझो । सबसे पहले रूप रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्दादि पञ्चतन्मात्र में से कोई एक तत्त्व, वस्तु या विचार उपलक्ष्य हो सम्मुख आता है और उसी को लेकर शरीर ध्यान में स्थिर होता है । उसके बाद यह लक्ष्य सर्वमय होकर 'अहंभाव' को लय कराता हुआ एक ही सत्ता में प्रतिष्ठित कर देता है । इस प्रकार की अवस्था यदि उन्नति को प्राप्त करे तो अन्त में वह एक सत्ता भी कहीं विलीन हो जाती है । तब क्या रहा क्या न रहा इसको समझाने के लिए कोई भाषा या अनुभूति नहीं रहती ।

कभी-कभी किसी प्रत्यक्ष कारण के बिना भी माँ के शरीर में अनेक असाधारण लक्षण प्रकाशित होते । कभी लम्बी साँसे चलतीं, सारा शरीर मुड़ने लगता, धीरे-धीरे इधर-उधर टेढ़ा हो जाता; ऐसे समय या तो माँ लेट जातीं, नहीं तो हाथ, पैर, सिर आदि समेट कर कुण्डली-सी बना लेतीं । उस समय संज्ञा रहती, कुछ पूछने पर धीरे-धीरे आवेश-जड़ित स्वर में कुछ थोड़ा बहुत बोलतीं ।

ऐसी अवस्था के सम्बन्ध में माँ से पूछने पर पता लगा कि वे अपने मूलाधार से सहस्रार तक मेरुदण्ड के भीतर से एक

सूक्ष्म प्राण-प्रवाह अनुभव करतीं, उसके साथ-साथ समस्त शरीर यहाँ तक कि रोमकूप तक में भी एक अकथनीय अपूर्व भावावेग का अनुभव करतीं और इस महानन्द में शरीर का अणु-परमाणु मानो नाच उठता। जो देखतीं, जिसे स्पर्श करतीं, सभी में उन्हें अपनी निज की अवच्छिन्न सत्ता का बोध होता। शरीर का कोई स्वतन्त्र व्यवहार नहीं रहता।

इस समय मेरुदण्ड को अच्छी तरह मलने एवं शरीर की ग्रंथियों को दबाने से थोड़ी देर चुप रहकर फिर अपनी स्वाभाविक अवस्था में आ जातीं। ऐसी अवस्था में माँ मूर्तिमती आनन्दरूपिणी के रूप में प्रकाशित होतीं एवं उनकी बात दृष्टि तथा व्यवहार में अपूर्व प्रेम की दीप्ति होती।

साधारण अवस्था में भी कभी-कभी ऐसा देखा गया है कि माँ लेटी-लेटी बातें कर रही हैं, हँस रही हैं किन्तु हाथ पैर खूब ठंडे हैं, नाखून नीले हो गये हैं, बहुतों के मिलकर हाथ पैर मलने पर भी कुछ नहीं हो रहा बल्कि उन लोगों के हाथ ठंडे हो जाते। एक दिन इस अवस्था से प्रकृतावस्था में आने में १२ घंटे लगे थे।

एंक दिन आश्रम में शाम होते ही माँ समाधिस्थ हो गयीं। दीदी माँ (माँ की मातृदेवी) माँ के पास वाले कमरे में लेटी थीं। पिताजी कमरे में थे। रात के दो बजे होंगे, मैं बरामदे में बैठा माँ के श्री चरणों का ध्यान कर रहा था। सहसा मानो हृदय के भीतर माँ के चलने का आभास हुआ। आँख खोलकर देखा—कुछ नहीं। कमरे में कुछ शब्द सा सुना। मैंने जाकर लालटेन की रोशनी में दरवाजे पर माँ के भींगे हुए दो पैरों के चिह्न देखे।

भीतर जाकर देखा माँ पहले की तरह ही शय्या पर लेटी हैं, दीदी माँ से पूछा कि क्या माँ बाहर गयी थीं। उन्होंने कहा, "नहीं, तुम्हारी माँ बाहर नहीं गयी थीं।" रात बीत गयी। दूसरे दिन भी सबेरे कुछ देर के लिए माँ होश में आयीं, किन्तु फिर वही अवस्था। उसके दूसरे दिन माँ को फिर चेत तो अवश्य हुआ किन्तु स्वाभाविक अवस्था में आते-आते ३, ४ दिन लगे।

मैंने इस सम्बन्ध में माँ से कुछ दिनों बाद कहा, "सुना है कि समाधि की अवस्था में संज्ञाशून्य शरीर से चलना फिरना सम्भव नहीं है, किन्तु उस रात को मैंने आपके पदचिह्न कैसे देखे ?" माँ ने कहा, "पुस्तकें क्या सब बातें समझा सकती हैं ?"

श्री श्री माँ से एक दिन पूछा, "साधक के क्या-क्या लक्षण होते हैं ?" माँ कहने लगीं, "जब साधक चित्त शुद्धि द्वारा कुछ उन्नत हो जाता है, उस समय उसका भाव कभी बालकवत्, पिशाच या जड़-सा हो जाता है, कभी वह साधारण लौकिक भावों की तरंग ही में बहता है। किन्तु इन सब सामयिक परिवर्तनों में भी उसके चित्त की एकमुखी गति लक्ष्य की ओर ही रहती है। ऐसी अवस्था में लक्ष्य-च्युत होने से उसका वहीं अन्त है।"

"कर्म के बल से साधक अग्रसर होता है, उसके सब व्यवहार एक ही लक्ष्य द्वारा प्रकाशित होते हैं। जैसा कि कभी देखेगा कि यह ज़ड़वत् अचेतन अवस्था में पड़ा है किन्तु जाग्रत अवस्था में सब भावों में ही मानो आनन्द की प्रतिमूर्ति है। क्रमशः एक समय ऐसा आता है कि जब चलना फिरना; सोना बैठना, सब लोकव्यवहारों में मानो एक महान् आनन्द का पुतला

है, वह उस समय बाहर भीतर एक अपूर्व आनन्द-सत्ता में परिणत हो जाता है।"

"इसके बाद एक ऐसी स्थिति आती है जहाँ पहुँचने पर उस का एक सत्ता का संस्कार भी लय हो जाता है। तब उसको साधारण विवेक बुद्धि से समझा नहीं जा सकता। इस अवस्था में उसके देह--स्पन्दन स्थगित हो जाते हैं, उस समय देहत्याग होने की सम्भावना भी कम रहती है; किन्तु जिसमें संसार के कल्याण करनेका संस्कार अवशेष रहता है वह इस अवस्था में भी निर्दिष्ट समय तक अपना शरीर धारण कर सकता है। सभी अवस्थाओं में वह अपरिवर्तित रहता है। यह हमारी समझ की भूल है कि उसको देहधारी समझ कर हम उसे देह के समान परिवर्तनशील समझते हैं।"

"योगबल से जो शरीर त्याग करते हैं उनमें तथा उपरोक्त अवस्था में साधकों में यही अन्तर है कि योगी अपनी स्वेच्छा से शरीर त्याग करते हैं। देह त्यागने के समय तक देह का संस्कार रहने के कारण वे क्रियाधीन रहते हैं। जिनका महायोग अथवा निर्विकल्प समाधि में देहपात होता है उनको स्वकृत किसी क्रिया की अपेक्षा नहीं रहती। पूर्व के साधन-संचित कर्मफल के शेष होने पर उसका देहपात अपने आप हो जाता है। उनमें जन्ममृत्यु का कोई संस्कार नहीं रहता।"

श्री श्री माँ ने एक दिन प्रसंगवश बताया :—

(१) "अपने अपने भावानुसार एकनिष्ठ ध्यान तथा धारणा से चित्तशुद्धि होती है।"

(२) "उसके बाद एकनिष्ठ भाव की साधना से खण्ड-खण्ड भाव एकसूत्र में गुँथ जाते हैं।"

(३) "फिर खण्ड-खण्ड भावधाराएँ एकमुखी हो जाती हैं तथा साधक भीतर बाहर जड़वत् हो जाता है।"

(४) "उसके बाद एकसत्ता का आश्रय ग्रहण कर साधक अखण्ड भाव में प्रतिष्ठित हो जाता है।"

माँ हर समय ऐसी बातें नहीं कहतीं अथवा बात करते-करते सहसा चुप हो जाती हैं। हमेशा ही बहुत से भक्त उन्हें घेरे रहते हैं। ऐसे समय भक्तों के कल्याण के लिए जब जो कुछ कहतीं वह सब लिपिबद्ध करना सम्भव भी नहीं होता। अनेक विषय तो सबके समझ में भी नहीं आ सकते।

श्री श्री माँ ऐसे सार्वजनिक रूप में उपदेश देती हैं कि बहुधा उसका यथार्थ मर्म समझना हम जैसे लोगों की समझ से बाहर है। फिर भी उनके श्रीमुख की पवित्र वाणी जब जिसके हृदय को आन्दोलित कर देती है तब वह अपने निज के भाव तथा सीमाबद्ध ज्ञान के द्वारा जो कुछ समझ पाता है उसका ही प्रकाश करता है। हिमालय की अनन्त जलराशि कितनी छोटी बड़ी नद-नदियों में प्रवाहित हो कितनी ऊसर भूमि को उर्वरा बनाती है, उसका अनुमान करना सहज नहीं है। इन निरन्तर प्रवाहित नद-नदियों से हिमालय की कुछ घटती बढ़ती नहीं होती। किन्तु उसके द्वारा जगत का निरन्तर कल्याण होता रहता है।

श्री श्री माँ के स्पर्श, इंगित, बात, हंसी द्वारा हमारे जीवन में प्रतिक्षण कितना परिवर्तन होता रहता है यह बताना सम्भव नहीं।

हम लोगों के नित्यप्रति के जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं में उनके आशीर्वाद का क्या स्थान है यह सब बताना माँ की महिमा को कम करना है यह धारणा निर्मूल है। उसके द्वारा उनके नाम का ही कीर्तन होता है और वह अनजाने हमें सन्मार्ग की ओर अग्रसर करा देता है।

●

लीला-खेल

श्री श्री माँ की चिरज्योतिर्मयी हास्यमयी मूर्ति, बाल-सुलभ सरलता, विनय, हास्यकौतुक तथा उनके परिपूर्ण हृदय की अबाध गति का जिन्होंने भी दर्शन किया, वे मुग्ध हो गये। उनकी बातों में, दृष्टि में, प्रत्येक भावभंगी में एक ऐसी मधुरता है कि उसकी तुलना नहीं है। उनके शरीर से, प्रत्येक श्वास से, उनके पहने वस्त्रों में से तथा शय्या से पवित्रता की एक दिव्य गंध सदा आती रहती है। उनके गान के स्वर में हृदय में हृदय की पवित्र भावराशि निर्झर की शीतल धारा की तरह निर्गत होती है।

वे स्वयम् पूर्ण निर्मुक्त, उदासीन हैं; अनन्त नील आकाश की तरह निर्लिप्त होने पर भी सबको अपनी ओर खींचती हैं। वे सब धर्मों, सब जातियों के मनुष्यों तथा पशु-पक्षी-वृक्ष-लताओं में एक अखण्ड प्राणलीला का संचार देख ही सबको एक ही आनन्द का प्रतिरूप मान सबके प्रति समान भाव से अनुराग, श्रद्धा और सम्मान का प्रदर्शन करती हैं।

माँ कहती हैं "मेरे लिये नया कुछ देखने, कहने और सुनने को नहीं है।" फिर भी कभी-कभी साधारण-सी चीज लेकर इस प्रकार प्रसन्न होतीं मानो किसी बच्चे को गुड़िया मिल गयी है।

भक्तों के साथ माँ की कितनी ही लीलाएँ देखी हैं कि जिनका अन्त नहीं । एक बार सबकी इच्छा हुई कि श्री श्री माँ को बालकृष्णके रूपमें देखें और फिर किशोर कृष्णके रूप में सजावें । सब ने मिलकर माँ को उसी तरह सजाया । एक ही माँ दोनों रूपों में क्या सजीं ? बाल रूप और किशोर रूप दोनों ही में उनकी मुखश्री कितनी समुज्ज्वल हो उठी ! दृष्टि की स्निग्धता, ललाट की प्रशान्त विशालता, मुख का पुनीत लावण्य, देहभंगी का लचीलापन किस अज्ञात दिशा में प्रगट हो माँ के मुख की शोभा की वृद्धि कर दिव्य ज्योति प्रदान कर रहा था वह अनुभव की एक बात है । यह केवल असाधारण ही नहीं वरन् अलौकिक तथा अभूतपूर्व दृश्य था ।

बालकृष्ण रूप में माँ की हँसती हुई मुद्रा का एक चित्र भी लिया गया था । उनकी हँसी में मानो शरीर का प्रत्येक अणु-परमाणु तक भाग ले रहा था । हँसी की ओट में पवित्रता की अपूर्व ज्योति माँ की मुखश्री को कितना ओजस्वी बनाये थी यह सभी भक्त लक्ष्य कर रहे थे । ऐसी पावन पुनीत हँसी कोई प्राकृत मनुष्य हँस सकता है, ऐसा नहीं मालूम होता ।

जहाँ श्री श्री माँ उपस्थित होती हैं वहाँ समवेत भक्तों के हृदय में अपूर्व माधुर्य्य का भाव फूट पड़ता है । जिसका जो भाव है, उसी में वह एक अपूर्व निर्मलता का अनुभव कर आनन्द प्राप्त करता है । जिस प्रकार श्रीकृष्ण को यशोदा बाल रूप में देख मोहित होतीं, श्रीदामा और सुदामा स्वभाव से मुग्ध होते, गोपियाँ मधुर-भाव में विभोर हो उठतीं उसी प्रकार माँ के भक्त भी अपनी भावना के अनुरूप माँ का दर्शन पाते हैं ।

बचपन ही से माँ का यही अपूर्व प्राण-भरा[१], मन-भरा[२] खेल चल रहा है। उनके साथ खेले बिना उनकी सहेलियों को खेल में आनन्द ही न आता था। उसके बाद जीवन में क्या बच्चा, क्या बूढ़ा, क्या जवान सभी माँ के पवित्र संसर्ग में एक बार अकथनीय आनन्द से मुग्ध हो माँ से बार-बार पूछते, माँ अब फिर कब मिलोगी ?" माँ जहाँ भी रहतीं वहाँ आनन्द का बाजार लग जाता, एक नूतन भाव की उद्दीपना से हजारों आदमी मानो सजीव हो उस दिव्य भाव में नाच उठते और फिर माँ वहाँ से चल देतीं तो वह स्थान महाशून्य में परिणत हो जाता। कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि माँ के रूखे बिखरे हुए केश, ढीला ढाला वेश तथा चाल को देख उन्हें कोई पागल समझ भयभीत होकर उनसे दूर जाने की चेष्टा भी किसी ने की, किन्तु उनकी मधुर मूर्ति की तरफ से दृष्टि हटाने में समर्थ नहीं हुआ।

साधारण हँसने बोलने में प्रतिदिन उनमें जिस असाधारण शक्ति का विकास होता देखा जाता उसकी सीमा नहीं है। श्री श्री माँ से इस विषय में कुछ पूछने पर माँ कहती हैं, "साधारण और असाधारण सब तुम्हारे लिए है, मैं तो हर समय हर अवस्था में एक भाव में ही हूँ।" और भी कहती हैं "सब ही तो खेल है, तुम लोगों को खेलने की साध है, इसलिए हँसी तमाशे में भी इस शरीर को तुम खींच ले जाते हो। यदि यह शरीर स्थिर, धीर, गम्भीर होकर रहता तो तुम दूर-दूर ही रहते। खूब सुन्दर तरीके से

---

१. प्राणो को भरपूर करने वाला

२. मन को मोह लेने वाला, अपूर्व खेल चल रहा है।

आनन्द का खेल खेलना सीखो । ऐसा होने से खेल ही में खेल का चरम पाओगे–समझे !''

जो साधारण के प्रतिदिन के अनुभव से परे है वही उसके लिए असाधारण है; किन्तु जो विभिन्न भावों का एक ही भाव समावेश कर अद्वैत आत्मानन्द में विभोर हों, उनमें कभी जीवभाव, कभी ईश्वरभाव, कभी ब्रह्मभाव, जैसे स्वतः स्फुरित विभूतियों को खेलों के सिवाय और क्या कहा जा सकता है । माँ के शरीर में स्वेच्छा अनिच्छा का अस्तित्व ही नहीं है । कभी–कभी भक्तों को सद्बुद्धि और शुद्धभाव की प्रेरणा देने के लिए नाना प्रकार की अलौकिक विभूतियों का प्रकाश होता रहता है, कभी श्रद्धालु की एकांत कामना ही माताजी के लौकिक व्यवहार से खिल उठती है । माँ कहा करती हैं "यह शरीर तो एक ढोल है जो जिस ताल से बजावेगा वही आवाज सुनेगा । मैं देखती हूँ कि सब जगह एक ही खेल चल रहा है ।''

१९३२ ई० के जून के महीने में जिस दिन माँ ढाका छोड़ कर आयी उसके पहिले दिन पाँच बजे रमना आश्रम में अनेक स्त्री, पुरुष, लड़के, लड़की प्रसाद खाने के लिए बैठे थे, माँ भी उनके साथ बैठी थीं । इतने में काली घटा छा गयी, आँधी आने वाली है देख सब पानी बरसने की आशंका करने लगे । इसी समय एक दूसरा दल भी आकर खाने बैठ गया । जिन–जिन का भोजन समाप्त होता जा रहा था, उन लोगों से उठने को कह माँ स्वयम् वहीं बैठी रहीं । जब सबका खाना शेष हो गया तो माँ बोलीं "मैं स्नान करूँगी'' । शाम के समय स्नान की बात सुन अनेकों ने मना किया, किन्तु माँ भला कब किसकी सुनने वाली

हैं । बहस हो रही थी कि जोर से पानी बरसने लगा । सारा आँगन पानी से भर गया । माँ उस पानी और मेह में अपूर्व भाव से इधर-उधर दौड़ने लगीं । साथ में अनेक स्त्री, बच्चे, युवा, बूढ़े अपने वस्त्रों की चिंता न करके कीर्तन करने लगे । रात को ९ बजे सब लोग अपने घर लौटे उनमें से कोई बीमार भी थे किन्तु किसी को कुछ न हुआ ।

प्राय: देखा गया है कि माँ हँसते-हँसते आँधी, पानी, लड़ाई झगड़े दृष्टिपात से ही रोक देती हैं ।

माँ स्वभाव से ही थोड़ा खाती हैं, इतना कम खती हैं कि उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती । शरीर में जब नाना प्रकार की योगक्रियाओं का प्रकाश होता था तब माँ कितने ही दिन उपवास में ही बिता दिया करती थीं । सुना है कि उन क्रियाओं की समाप्ति न होने तक माँ को खाने का ख्याल ही नहीं आता था । जब माँ थोड़ा खातीं अथवा बिलकुल ही नहीं खातीं तब माँ की मुखश्री उज्ज्वल, शरीर स्वस्थ तथा चित्त में प्रसन्नता भरपूर रहती । कम खाने के अनेक नियम उनके व्यवहार से पहले ही प्रकट हुए थे । पाँच महीने माँ ने केवल शेष रात्रि में कुछ खाकर बिताये । सब मिलाकर तीन ग्रास दिन में तथा तीन ग्रास रात में खाकर आठ-नौ महीने बिताये । पाँच छ: महीने दिन में दो बार थोड़ा पानी और फल खाकर काटे । सप्ताह में केवल दो दिन दोनो समय कुछ अन्न खातां बाकी दिन थोड़ा फल खाकर काट देतीं । इस प्रकार छ: सात महीने बिताये । १९२४ से खाना स्वयम् अपने हाथ से नहीं खा पाती थीं, मुँह के पास हाथ खुल जाने से ग्रास गिर जाता था । हाथ की पीड़ा इसका कारण नहीं

थी। उस समय एक नूतन व्यवस्था हुई, जो माँ को खिलाती थी उसकी दो अँगुलियों से जितना अन्न उठता था उतना दिन-रात में केवल दो बार खाकर चार पाँच महीने काटे। उन दिनों हर दूसरे दिन एक बार थोड़ा सा पानी पीती थीं। पाँच छः महीने सुबह तीन चावल के भात तथा रात को तीन चावल के भात और पेड़ से अपने आप गिरे हुए दो-एक फल खाकर दिन व्यतीत किये। कभी अन्न मुँह से लगा कर गिरा देती थीं। फिर ऐसा हुआ कि जो कोई उन्हें खाना खिलाती वह एक सांस में जितना खाना-पानी खिला-पिला सकती केवल उतना खातीं, इस तरह भी दो तीन महीने बिता दिये। यज्ञाग्नि पर एक छोटे डिब्बे में छटाँक चावल दाल (दोनों मिलाकर) उबाल कर खा के भी आठ नौ महीने बिताये। फिर कभी केवल साग-सब्जी उबाल कर उसका रसा, थोड़ा-सा दूध अथवा दो-एक रोटी खाकर बहुत दिन काटे। अनेक समय तो बिना कुछ खाये भी रहीं।

एक बार जब चावल खाना प्रायः बन्द-सा हो गया तब चावल पहिचान भी नहीं पाती थीं। शाहबाग में एक कहारिन नौकरानी थी, वह खाने बैठी। उसको खाते देख माँ हँसते-हँसते कहने लगीं "यह क्या खा रही है ? क्या सुन्दर रीति से मुख में दे रही है, चबाती है और खाती है—मैं भी खाऊँगी, ।" यही उसकी पत्तल के बराबर जा बैठीं। एक दिन एक कुत्ता भात खा रहा था, वहाँ भी पहुँच रोती हुई सी बोलीं "मैं भी खाऊँगी, मैं भी खाऊँगी" उपरोक्त भावों में देखा जाता कि यदि उनको कोई बाधा देता तो वे बच्चों की तरह जमीन पर लोट कर जिद करतीं। अन्त में माँ ने स्वयं बताया "मनुष्य त्याग करने की चेष्टा करता है,

किन्तु मेरे सभी विपरीत हैं, जिससे त्याग न हो वही व्यवस्था मैं करती हूँ। तुम लोग याद करके रोज तीन चावल का भात खिलाया करो, नहीं तो जैसे अपने हाथ से खाना छूटा वैसे ही भात खाना भी बिल्कुल बन्द हो जायगा।

जो माँ को खिलाया करती थीं उन्हें बहुत सावधान रहना पड़ता कि कहीं एक दाना भी ज्यादा न दे दें। खूब शुद्ध और संयत होकर खिलाना होता तथा खाने के बर्तन और चीजें साफ रखनी होतीं। अन्यथा होने से माँ खाना निगल ही न पाती थीं, मुँह दूसरी ओर को मुड़ जाता था, शरीर आसन पर से ही उठ जाता था। माँ कहतीं "इस शरीर और जमीन (पृथ्वी) में कुछ अन्तर नहीं है, मैं तो जमीन पर या किसी भी जगह पर किसी भी भाव से कुछ रख दो, सब खा सकती हूँ, परन्तु तुम लोगों को सिखाने के लिए आचार, निष्ठा, कर्तव्यपालन सब आवश्यक है, इसीलिए मेरा ऐसा रूप हो जाता है।"

दीर्घकाल तक इतना कम खाने पर भी दुनिया के किसी काम में माँ को दुर्बल या क्लान्त नहीं देखा। बाद में धीरे-धीरे सब काम अपने आप बन्द हो गये, खाना बनाने या और कोई भी काम करने जाने पर शरीर अवश होकर पड़ जाता था। किसी किसी दिन आँच से हाथ-पैर तक जल जाते अथवा अन्य कोई चोट पहुँचती, किन्तु इन सब दुर्घटनाओं की अनुभूति माँ को कुछ न होती थी। माँ कहती हैं, "इच्छा करने से कुछ छोड़ा नहीं जा सकता, कर्म की पूर्णाहुति के साथ-साथ त्याग अपने आप हो जाता है।"

१९२६ ई० मई महीने से आहार सम्बन्धी कठिन नियम

कुछ शिथिल होने लगे। किन्तु जो कुछ भी खातीं, बहुत ही कम, बच्चों की तरह। हाथ से खाना बन्द होने के चार-पाँच साल बाद सबने माँ से फिर अपने हाथ से खाने का अनुरोध किया, माँ को भी कुछ वैसा ख्याल हुआ। खाना लेकर बैठीं, थोड़ा सा मुँह में दिया, बाकी बाँट दिया कुछ धरती पर गिरा दिया, भोजन कुछ भी नहीं हुआ। इसके बाद फिर किसी ने खुद खाने के लिए अनुरोध न किया। माँ बोलीं "मैं देखती हूँ, सभी तो मेरे हाथ हैं, अपने ही हाथ से खाती हूँ।"

श्री श्री माँ का गृह-प्रबन्ध, खाना बनाने की निपुणता तथा पवित्रता एवं खाना परोसने तथा अथिति सत्कार करने में निर्मल प्रसन्नता छोटी उमर से ही देखने में आयी थी। जो कुछ करतीं त्रुटिहीन होता। ताँत पर कपड़ा बुनना, सिलाई, ऊन का काम आदि सभी काम खूब सुन्दर रूप से कर सकती थीं। बहुत से काम जो चेष्टा से भी अन्य लोग न कर पाते थे माँ सहज ही में कर लेती थीं। सब लोग देखकर अवाक् रहते थे। उनकी बनायी हुई तरकारी दाल का स्वाद भी अपूर्व होता, इसलिए निमन्त्रण के समय सबके अनुरोध के कारण खाना बनाते समय माँ को उपस्थित होना ही पड़ता था।

छोटे बड़े सबको खिलाने तथा पहिनाने में माँ को बड़ा आनन्द मिलता था, स्वयम् कुछ न खा, न पहिन दूसरों को तृप्ति देती थीं। एक गुजराती साधु एक बार शाहबाग आये। माँ ने अपनी साड़ी के आँचल से उनका आसन पोंछा तथा खूब मधुरभाव और विनय से खाना खिलाया। खाने की चींजे थाली में ऐसे सुन्दर भाव से सजायी गयीं मानो वे सेवा और श्रद्धा के

स्पर्श से भरपूर हों। उन महात्मा ने कहा "आज तो जगत्-जननी के हाथ से खाया, इतने आदर से तो कभी किसी ने नहीं खिलाया।"

जितने दिन कर सकीं उतने दिन माँ ने घर की, माँ की तरह सब बच्चों (सन्तानों) को खुद बना कर प्रसाद दिया। उनके हाथ का प्रसाद अनेक के हृदय में अनिर्वचनीय आनन्द का संचार करता। अनेक समय प्रसादादि देते समय भी अनेक अलौकिक घटनाएँ होतीं। एक दिन स्व० निरंजन की स्त्री कुछ संतरे ले गयीं। माँ उठकर प्रत्येक को एक-एक संतरा देने लगीं कारण सभी चाहते थे कि माँ के हाथ से लें। उपस्थित लोगों की संख्या देखते हुए संतरों के कम पड़ने की आशंका थी किन्तु माँ की ऐसी लीला कि सभी को मिल गये। एक बार निरंजन के यहाँ कीर्तन में पचास साठ आदमियों के प्रसाद का आयोजन था किन्तु उपस्थित हुए प्रायः १२० व्यक्ति। माँ यह सुनकर जहाँ अन्न-व्यंजन था वहाँ जाकर खड़ी हो गयीं। बाद में देखा कि सब लोग प्रसाद ले चुके तो भी कुछ बच गया।

आश्रम में कितने ही खाने के सामान और कपड़े माँ के लिए आते थे। स्वयं थोड़ा सा लेकर या कपड़े को एक बार पहिन कर या शरीर से छुवा कर सबको बाँट कर खूब जोर से हँसतीं। बहुत लोग बहुमूल्य सोने-चाँदी के गहने आदि भी माँ को भेंट करते थे। कभी-कभी माँ के दोनों हाथ शंख की, काँच की तथा सोने की चूड़ियों से भर जाते थे। वे सभी वस्तुएँ एक भाव से ग्रहण करतीं, किसने क्या दिया व किसने क्या लिया या रख दिया इस ओर उनकी दृष्टि ही न जाती थी। कुछ गहना तो बाँट दिया बाकी

प्रायः एक हजार का सोना चाँदी गला कर आश्रम की देवमूर्ति के लिए दे दिया गया। उनके निज के पास दो साड़ियाँ ही रहतीं जिनमें से कभी-कभी एक किसी को दे देतीं। यह भी देखा जाता कि देते न देते एक और कहीं से आ जाती।

मैं ढाका से कलकत्ते जाने पर अपने बड़े भाई के तुल्य श्री ज्ञानेन्द्रनाथ सेन के यहाँ ठहरता। उनकी स्त्री हिरण्मयी देवी मुझसे अपने छोटे भाई की तरह स्नेह करती थीं। उनकी जैसी स्नेहलीला आदर-सत्कार में निपुणा, सरला, शुद्धा तथा पतिप्राणा स्त्री बहुत कम होती हैं। उनके पवित्रभाव के कारण माँ स्वयम् भी, अक्सर उनके यहाँ जातीं। माँ एक बार कलकत्ते के कालीघाट में एक मकान में ठहरीं, मैं उनसे मिलने गया। उसी समय एक भक्त ने माँ को ढाका की एक साड़ी पहनायी। माँ उस समय ज्ञानबाबू के घर जाने वाली थीं। रास्ते में कहीं और भी जावेंगी यह सुनकर मैं पहले ही आ गया। घर लौट कर एक मामूली सी साड़ी खरीद कर माँ के लिए रख दी। मैं सोच रहा था कि माँ के आने पर यह साड़ी उन्हें पहनाने से वह ढाका वाली साड़ी ज्ञानबाबू की स्त्री को दे देंगी। इस विषय में किसी और से कुछ न कहा। माँ आयीं, किन्तु एक सादी साड़ी पहिने थीं। माँ आते समय जहाँ से होती आयी थीं वहीं वह साड़ी दे आयीं। मैं अवाक् था ! माँ मेरी तरफ देखतीं और हँसती थीं। कोई कुछ नहीं समझ रहा था। अन्त में मैंने स्वयं अपनी बुद्धि की दौड़ की बातें माँ से कहीं।

ऊपर जिस प्रकार माँ ने कम खाने के विषय में अलौकिक घटनाओं का उल्लेख किया है उसी प्रकार अधिक खाने की भी

अनेक घटनाएँ देखी हैं । आठ नौ महीने तक यज्ञाग्नि पर पकाये हुए एक छटाँक अन्न ग्रहण करने के बाद जिस दिन पहली बार साधारण भाव से खाया उस दिन आठ नौ जनों का खाना माँ ने अकेले खाया और एक बार हँसी-हँसी में ६०, ७० पूरियाँ तथा उसके अनुरूप ही दाल तथा सब्जी और एक कटोरी खीर खायी । और एक बार आधमन दूध की खीर खाकर भी, बच्चों की तरह और अधिक खाने का हठ तथा अनुरोध करती रहीं ।

माँ को इतना अधिक खाते देख कहीं किसी की नजर न लग जाय, इस भय से हड़िया पोंछ कर एक दो खीर के छींटे माँ के सिर के कपड़े पर डाल दिये गये । बाद में देखा कि जहाँ-जहाँ छींटे पड़े वहाँ आग से जले के समान हो गया ।

इस प्रकार खाने के समय एवं कभी-कभी बाद में भी उनमें एक अप्राकृत भाव देखा जाता था । माँ कहतीं "मैंने जो अधिक खाया, वह तुम लोगों ही के मुँह से सुना, खाने के समय मुझे तो कुछ नहीं लगा । उस समय अच्छी चीज ही क्यों घास-पत्ता जो भी दो वह भी वैसे ही खा लेती ।" इससे उनके शरीर में कुछ भी विकार नहीं होता । सिर्फ खाना ही क्यों माँ को जब कभी किसी भी काम का ख्याल आता तो उसे करती ही जातीं, अस्वाभाविक होने पर भी उसके फलस्वरूप कुछ अनिष्ट नहीं होता ।

जिस प्रकार देवपूजा के उपचार में गन्ध पुष्प द्वारा अर्चना करके भोग निवेदन किया जाता है, उसी प्रकार मातृ चरणों में एकनिष्ठ भाव से जो जितनी श्रद्धा से द्रव्यादि द्वारा पूजा करता है वह उतना ही आनन्दलाभ करता है । हमने देखा है कि मुरमुरी खीलें तथा अन्य मामूली से फल माँ बड़े आनन्द से ग्रहण करती

हैं । तरकारी में यदि नमक नहीं है या मिठाई में चीनी नहीं है, तब भी यदि कोई श्रद्धाभाव से माँ को खिला रहा हो तो माँ हँसती हुई खाती जाती हैं और फिर "देख तो कैसी है" कह कर सबको बाँट भी देती हैं । और कभी किसी की मुश्किल से संगृहीत सुस्वादु वस्तु को जरा सा मुँह में देकर ही मुँह बन्द कर लेती हैं ।

ढाका गेन्डारिया के रिटायर्ड डिपटी इन्स्पेक्टर तारकचन्द्र चक्रवर्ती वृद्धावस्था में अपने घर के छेने के सन्देश[1] तैयार कर चार पाँच मील पैदल चल एक दिन प्रातःकाल आश्रम पहुँचे । माँ उस समय तक अपने बिस्तरे ही में थीं । वृद्ध आकर 'माँ' 'माँ' कह पुकारने लगे और बोले "मैं बड़े पवित्र भाव से तुम्हारे लिए संदेश लाया हूँ, माँ तुम्हें खाना होगा ।" माँ ने बिना हाथ मुँह धोये बिस्तर पर ही बैठे-बैठे वृद्ध के हाथ से सन्देश खाये और बच्चों की तरह खुश हो ताली बजाने लगीं । तारक बाबू की दोनों आँखों से आनन्दाश्रु बहने लगे । एक दिन बेवी दोपहर के समय कुछ मिठाई तैयार कर आश्रम आ रही थीं । माँ आश्रम में बैठी उस समय कथावार्ता कर रही थीं । तब बेबी आश्रम से प्रायः आध मील की दूरी प्रर होगी । माँ सहसा हँसती हुई बोलीं "मेरे लिए खाने को कुछ आ रहा है ।" छोटे बच्चों की तरह मिठाई खाने के लिए पहिले ही से प्रस्तुत होकर बैठ गयीं । किसी-किसी दिन किसी के आते ही उससे आग्रह पूर्वक कहतीं "मेरे लिए क्या लाए हो जल्दी निकालो ।" और फिर उसे ले कितना क्रीड़ा-कौतुक करतीं । कभी यह भी देखा गया है कि कोई कुछ लिये माँ की प्रतीक्षा कर रहा है । उधर माँ की निद्रा ही नहीं टूटती ।

---

१. बंगला विशेष मिठाई ।

मैं उन दिनों बीमार था । एक दिन इच्छा हुई कि माँ के लिए कुछ खीर भेज दूँ। खीर तैयार होने पर मैंने अलग से थोड़ी सी चखी यह देखने के लिए कि अच्छी तो बनी है । मेरी बड़ी बहिन जो पास हीं खड़ी थीं, बोलीं "यह मिठाई माँ के लिए मत भिजवाओ, जूठी चीज देवता के भोग नहीं लगती ।" मैंने कहा "नहीं, तुम भिजवा दो ।" बाद में सुना उस दिन माँ ने सब खीर अकेले ही खायी ।

और एक दिन की बात है । मैंने कहा "आज माँ के लिए 'शटिर पालो' (बार्ली की तरह एक प्रकार का कन्द का मैदा) तैयार कर भिजवा दो ।" घर के सभी ने उसे बेमन से उसे भिजवाया । पीछे पता चला कि माँ ने उसमें से जरासा भी नहीं खाया ।

ऐसा भी देखा गया है कि कोई खाली हाथ दूर खड़ा हो चुपचाप माँ को भाव उपहार दे रहा है तथा मन ही मन माँ की कृपा का इतना अनुभव कर रहा है जितना शायद कोई अनेक उपहार भेंट कर अश्रुविमोचन करके भी न कर सके । जैसा जिसका भाव रहता है वैसा ही उसे लाभ होता है, माँ की कृपा बाह्य वस्तुओं के देने लेने की अपेक्षा नहीं करती ।

माँ के पास आस्तिक-नास्तिक, धनी-दरिद्र, शिशु-युवा, वृद्ध स्त्री या पुरुष सभी के लिए द्वार खुला है । माँ प्रायः कहा करती हैं "मुझसे मिलने के लिए समय जानना चाहते हो ? मेरा दरवाजा तो हमेशा ही खुला है । तुम्हीं लोग बल्कि संसार की बातों में फँस इस बच्ची की बात भूल जाते हो, मुझे तो हर समय

तुम: लोगों का ख्याल रहता है ।" जो बिना देखे ही देखें, देख कर भी न देखें, कुछ न सुनकर भी सुन लें तथा सुनकर भी अनसुनी करें, उनके लिए यह कुछ विचित्र नहीं । दिन-रात, सुख-दुख, क्लान्ति-अक्लान्ति सभी में समभाव से माँ सबके लिए निरन्तर प्रतीक्षा करती रहती हैं ।

प्रतिदिन सुबह से रात तक अनेक भक्त माँ को घेरे रहते हैं । कोई सिंदूर दे रही है तो काई बाल काढ़ रही हैं कोई कह रही है चलो स्नान करा दें, कोई दाँत माजने ही को कह रही है, कोई साड़ी पहना रही है तो कोई जम्पर बदल रही है, कोई मिठाई या फल दे रहा है, कोई माँ से गाने को कह रहा है, कोई चुपचाप माँ के कान में कुछ कह रहा है, उठा ले जाकर कोई एकान्त में कोई गोपनीय बात कहना चाहता है, कोई आकर कहता है 'हटो-हटो, माँ को इस प्रकार दिक न करो ।" इस प्रकार सभी के अनुरोध, मिनती, शोरगुल में माँ अटलभाव से एक ही आसन पर प्रसन्न मुख से बैठे-बैठे घण्टों बिता देती हैं और उनके चारों ओर आनन्द लहराता है । चाहे सब समान भाव से आकृष्ट हों या न हों माँ की स्नेहपूर्ण करुण दृष्टि ऊषा की स्वर्णरश्मि की भाँति सभी पर समान भाव से पड़ती है । कोई भी माँ के पास जाकर हताश या दुःखी होकर लौटते नहीं देखा गया । माँ कहती हैं "ज्ञानी अज्ञानी लेकर ही तो भगवान् का संसार है, जिसे जैसा खिलौना चाहिए उसे वैसा ही देकर शान्त रखना होता है । इसी कारण कोई भी कभी यह नहीं कह सकता कि "माँ मेरी नहीं तुम्हारी हैं ।" जो जितना माँ का सान्निध्य पाता है वह प्रत्येक ही ऐसा समझता है कि माँ केवल उसकी अपनी हैं । सभी अपने प्राणों का अन्तरतम

आवेग माँ के चरणों में निःसंकोच रूप से निवेदन कर उनकी अभय वाणी लाभ कर सन्तुष्ट होते हैं।

माँ स्वयम् अपने भक्तों को लेकर क्या-क्या खेल करती हैं वह सब हमारी समझ के बाहर है। किसी के पुत्र-जन्मोत्सव तथा किसी के पुत्र-शोक इन दोनों विपरीत चित्त-गति को माँ एकभाव ही से ग्रहण करती देखी गयी हैं। कभी शोकातुर को देख कर हँसी हैं तो कभी उल्लसित को देख रो देती हैं। कोई यदि माँ के पैरों के ऊपर पड़ कर रोता है तो उसे ढाढ़स देती हुई "ऐसा न करो"कह कर पैर खींच लेती हैं। कोई बहुत देर तक पैर पकड़े रहता है, और माँ भी कुछ न कह चुपचाप बैठी रहती हैं। एक दिन एक स्त्री पुत्रशोक से कातर हो माँ के चरणों में पड़ रोने लगी। माँ ने भी इतनी जोर से रोना आरम्भ किया कि वह अपना सब दुःख व रोना भूल गयी। वह माँ का प्रसन्न बदन देखने के लिए आतुर हो बोली "माँ ! अब मैं नहीं रोऊँगी, तुम शान्त हो जाओ।"

बहुतों ने इस बात का अनुभव किया है कि माँ के श्रीचरण दर्शन से, उनके मधुर वाक्य श्रवण से, उनकी पदधूलि ग्रहण करने से प्राणों में एक शुद्ध भाव की व्यंजना होती है। एक दिन आधुनिक विचारों वाले मेरे एक बंगाली मित्र जो विलायत हो आये थे अनुरोध से माँ के दर्शन को गये। उन्होंने बताया कि माँ के दर्शन होने से उनका बहुत दिनों का भूला हुआ गुरुमंत्र फिर से जग उठा। इस प्रकार के अनेक दृष्टान्त मिले हैं कि उनके चरणों में पूजा, जप, ध्यान रूप भगवान् की आराधना में निरत हो लोगों ने शक्ति तथा एकनिष्ठता का अनुभव किया। श्रद्धा के साथ

उनको आदर्श मान कर उनके ऊपर पूर्ण लक्ष्य रख कर अनेक ही श्रेय की ओर अग्रसर हुए हैं। सिद्धेश्वरी में कीर्तन में एक बार माँ को एक सोलह साल की लड़की ने भावावेश में विस्मय और आनन्द से उत्फुल्ल हो पकड़ लिया। इससे उसके शरीर में ऐसा परिवर्तन हुआ कि 'हरिबोल' 'हरिबोल' कहते कहते वह जमीन में लोटने लगी। तीन चार दिन तक हरिनाम करती रही, उसका ऐसा ही तन्मय भाव रहा।

यह भी सुना गया है कि कोई कोई माँ के दर्शन व स्पर्शमात्र से पूर्व के किये हुए अशुभ कर्मों से मर्माहत और सन्तप्त हो आत्मोन्नति के पथ पर अग्रसर हुए हैं। ऐसा भी अनेक बार देखा गया है कि जिसे दुनिया पापी या हीन कह कर अलग कर देना चाहती है वह भी माँ का संग लाभ कर कृतार्थ हुआ है। माँ कहती हैं "जो कुछ नहीं कर पाते हैं, जिनके धर्मजीवन में कोई सहायक नहीं हैं, उन्हीं से मेरा विशेष प्रयोजन है।" इस प्रकार के भी अनेक दृष्टान्त हैं कि जो धर्मजीवन में अग्रसर मात्र हुए हैं वे माँ की शरण में जा उन्नति लाभ कर गये हैं। और कोई कोई शास्त्रज्ञानी, कर्मनिष्ठ होने पर भी माँ का दो दस दिन संसर्ग पाकर भी माँ से दूर हो गये। माँ कहती हैं "समय बिना आये कुछ नहीं हो सकता, जिसे जितना पाना था वह पा गया।"

कीर्तन के समय देखा गया है कि कुत्ता और बकरी भी माँ के पास बैठ जाते हैं, उनके घुटने पर सिर रखते हैं, कभी माँ के साथ घूमते हैं, कभी लूट[१] के समय मनुष्यों की तरह ढूँढ़ ढूँढ़ कर

---

१. कीर्तन के बाद बतासे फेंक दिये जाते हैं। लोग प्रसाद मान कर उन्हें उठाकर खाते हैं। इसे ही 'हरि लूट' या 'लूट' कहते हैं।

बतासा खाते हैं। क्रूर विषधर सर्प भी माँ के साथ देखे गये हैं। एक दिन सिद्धेश्वरी में माँ पेड़ के नीचे बैठी थीं। श्रीमान् गिरिजाप्रसन्न सरकार ने देखा कि एक साँप माँ की पीठ पर फन फैलाये है, जबकि स्थान चारों ओर से साफ था। निरंजन के घर भी एक रात बिजली की रोशनी में एक साँप माँ के पीछे-पीछे चल रहा था। बहुत से स्थानों पर माँ के साथ-साथ सर्प देखा गया है।

श्री श्री माँ के उपदेश इतने व्यापक, सरल तथा प्राणस्पर्शी होते हैं कि सुन कर ऐसा लगता है मानो अन्तरात्मा वाणी रूप में आत्मप्रकाश कर रहा है। उनका प्रत्येक वाक्य सनातन सत्य का आभास देता है। वह कोई तर्कयुक्त मीमांसा नहीं करतीं, इच्छा से किसी को उपदेश या आदेश भी नहीं देतीं। अपने आप जिसको जो लेना होता है वह पा लेता है।

ऐसा भी देखा गया है कि कोई अनेक प्रश्न ले माँ के पास गया और माँ किसी अन्य के साथ बातें कर रही हैं किन्तु उन बातों द्वारा उसकी शंकाओं का भी समाधान हो गया। एक बार 'देवधर' वैद्यनाथ जाने पर बालानन्द स्वामी जी ने कहा, 'माँ ! अपनी गठरी तो खोलो।" माँ ने उत्तर दिया, "गठरी तो बाबा सदा ही खुली है।"

माँ के बहुत से उपदेश 'सद्वाणी' में छप गये हैं। और कुछ यहाँ भी उल्लिखित हुए हैं। प्रतिदिन हँसी और बातचीत में जो धर्म और नीति विषयक बातें सुनाई पड़ती हैं, उन सबको यदि संग्रह किया जाय तो एक अपूर्व ज्ञान-ग्रन्थ हो जायेगा। छोटी-सी वस्तु से लेकर माँ महत् तत्त्वों का विवेचन कर देती हैं।

हमारा छोटा परिवार एक विराट् विश्व का अङ्ग है, ससीम जीव जीवन के घात प्रतिघात में असीम का संधान पाने की चेष्टा करता है, यही माँ की बात, हँसी तथा गान कीर्तन, हाव भाव, चाल चलन में प्रगट होता है। उनके वचन तथा शारीरिक कार्य सभी उपदेशपूर्ण हैं, सांसारिक और धार्मिक दोनों ही क्षेत्रों में उनका प्रयोग आवश्यक है। उनके गुणों में से यदि केवल एक ही को आदर्श मान कर चला जाय तो जीवन धन्य हो जावे। धर्म पिपासु को तो अक्सर ऐसा लगता है कि दुःख दैन्य को नष्ट करने के लिए उन्होंने सर्वमंगल स्वरूप यह देह धारण की है।

माँ के उपदेशों का मूलतत्त्व यह है कि धर्म का प्राण या सार किसी जटिल बन्धन या आचार की चहारदीवारी में निबद्ध नहीं है। जीवनरक्षा का अर्थ ही धर्मरक्षा है, यह मन में धारणा बना दैनिक जीवन के आहार, विहार, धनोपार्जन आदि के भीतर आन्तरिकता तथा सरलता के साथ सहज धारा से धार्मिक साधना की ओर भी मन लगाना मनुष्य के लिए आवश्यक है। माँ कहती हैं, "सद्बुद्धि से कर्म करो" कर्म करते करते ही एक-एक कदम ऊँचे उठाने की चेष्टा करो। सब कामों में ही उन्हें लिए रहो, फिर कुछ छोड़ना न होगा। तुम्हारे काम भी अच्छी तरह होते चलेंगे और लक्ष्यपति का संधान भी सहज होगा। माँ जिस प्रकार बच्चे को यत्न से बड़ा करती है उसी प्रकार तुम भी बड़े होते चलोगे। जब जो काम करो मन, वचन और शरीर से सरलता और सन्तोष से करना तभी कर्म में पूर्णता आवेगी। समय होने पर सूखे पत्ते आप से आप गिर जावेंगे तथा नये पत्ते आ जावेंगे।" मैंने सुना माँ जब संसार का कोई भी काम करती थीं तो खाना, पीना, पहनना,

ओढ़ना, यहाँ तक कि अपने शरीर की रक्षा की बात भी उनके ख्याल में नहीं आती। सारे दिन संसार का काम करतीं तथा बड़ों के हुक्म की तामील करतीं। पास-पड़ोस की स्त्रियाँ कहतीं "इस बहू में दुनिया की अक्ल बहुत कम है।"

माँ कहती हैं, "प्रत्येक का मन अपने काम के लिए जैसे स्कूल, आफिस, दूकान इत्यादि का एक न एक निर्दिष्ट समय रहता है, उसी प्रकार २४ घण्टे में से कोई समय जितना सबको साध्य हो निर्दिष्ट रखना चाहिए। मन में संकल्प करना होगा कि मैंने सदा के लिए अपने परम देवता के निमित्त उसे उत्सर्ग कर दिया है, उस समय उनकी चिन्ता के सिवाय और कुछ काम नहीं करूँगा। परिवार में भी सबके लिए यहाँ तक कि नौकर के लिए भी इसी प्रकार एक समय निर्दिष्ट कर दे। बहुत दिनों तक ऐसा करते ईश्वरचिन्ता तुम्हारे लिए स्वाभाविक हो जावेगी। फिर कोई सोचने की बात ही न रहेगी। तुम स्वयम् ही अनुभव करोगे कि प्रत्येक विचार और कर्म में एक अज्ञात कृपा की धारा तुम्हें बल तथा उत्साह प्रदान कर रही है। जिस प्रकार नौकरी के बाद बिना काम किये भी पेन्शन मिलती है, वह भी उसी प्रकार है, बल्कि उसकी तुलना में धर्म-राज्य में पारितोषिक अधिक ही मिलता है और सहज में लभ्य भी है।

"नौकरी की पेन्शन मरने के बाद नहीं मिलती, किन्तु उस पेन्शन का लय नहीं, क्षय नहीं है। जो धन इकट्ठा करते हैं, वह घर में एक ऐसा गुप्त स्थान रखते हैं जहाँ जब जो कुछ हो जमा रखते जाते हैं, हमेशा उसकी रखवाली करते रहते हैं। उसी तरह भगवान् के लिए जिसे जैसे इच्छा लगे, हृदय के एकान्त कोने में

एक स्थान रखो । जब भी समय पाओ वहाँ उनका नाम और भाव संचित करते रहो ।"

एक दिन अनेक प्रकार के प्रणामों की प्रणाली दिखाते हुए माँ ने कहा "जो जितना अपने को भूलकर एकनिष्ठा के साथ प्रणाम कर सकता है वह उतना ही शक्ति पाता है तथा आनन्द लाभ करता है । यदि और कुछ न कर सको तो सुबह-शाम देह, मन, प्राण के साथ एक कातर ही प्रणाम करो । उनको तनिक स्मरण करने की चेष्टा करो ।" इसी प्रसंग में उन्होंने कहा, "दो तरह के प्रणाम होते हैं, जानते हो ? जल के भरे हुए घड़े को उड़ेलने की तरह अपने हृदय के समस्त भावों को उड़ेल कर नमस्य को समर्पण कर देना । दूसरी तरह का प्रणाम होता है पाउडर के डिब्बे के छिद्रों में से पाउडर छिड़कने की तरह । तुम लोगों के मन का अधिकांश भाव तो मन ही में पड़ा रहता है, एक दो बिन्दु श्रद्धा के इधर-उधर निकाल पाते हैं ।"

स्व० प्रमथ बाबू पोस्टमास्टर जनरल होकर ढाका से बदली हुए । विदा के समय माँ के चरणों में प्रणाम किया । माँ बोलीं, "कौन किसको प्रणाम करे, तुमने तो स्वयं अपने को ही प्रणाम किया ।" वह इस बात को सुन कर विस्मय और आनन्द से रोमांचित हो गये ।

एक बार श्रीमान् अटलबिहारी भट्टाचार्य शारदीय पूजा के उपलक्ष्य में शाहबाग जाकर बीमार पड़ गये । उनकी उत्कट अभिलाषा हुई कि माँ सांसारिक माताओं की तरह उनका माथा दाबे, माँ ने जाकर अटल के सिर से पैर तक हाथ फेरा । वे स्वस्थ होकर राजशाही अपने नौकरी के स्थान पर चले गये । कुछ दिन

बाद शाहबाग में वह प्रसंग चला। मैं बोला "जैसा वह खुद है वैसी ही उसकी बुद्धि है, माँ से सेवा करवाने का उसका क्या अभिप्राय था, मेरी समझ में नहीं आया।" यह बात सुनते ही माँ का चेहरा बदल गया। "तेरे पैर भी दबा दूँ क्या" कहती हुई मेरी तरफ आने लगीं। मैं वहाँ से उठ भागा, माँ भी मेरे पीछे-पीछे आने लगीं किन्तु पिताजी ने उन्हें पकड़ लिया। बालिका की तरह माँ की वह तेजोमयी मूर्ति आज भी मुझे याद है। उस समय श्री शंशाक मोहन मुखर्जी (पूज्यपाद स्वामी अखण्डानन्दजी) "माँ" "माँ" चिल्लाकर उनके पैरों पर पड़ गये थे। इस उपलक्ष्य में माँ ने बताया "जिस प्रकार सिर हाथ पैर आदि एक मनुष्य के अंग हैं, उसी प्रकार मैं समझती हूँ तुम सब भी इस शरीर के विशेष-विशेष अङ्ग-प्रत्यङ्ग हो।"

एक दिन वाराणसी के स्वर्गीय निर्मलचन्द चटर्जी ने माँ के चरण-कमलों में अनेक फूल चढ़ाये। उसी समय एक आदमी डलिया में कुछ फूल सजाकर मन्दिर में पूजा करने के लिए माँ के पास से ही निकला। माँ ने उन चढ़े हुए फूलों को उस डलिया में रख दिया। निर्मल बाबू के पूछने पर कि माँ ने ऐसा क्यों किया, माँ बोलीं, "जिसका सिर है उसी के तो पैर हैं। सब लोग इस प्रकार के भावों के साथ एक ही की तो पूजा करते हैं।"

एक दिन बाँस की छोटी टहनी से माँ जमीन के ऊपर कुछ चोट कर रही थीं। एक मक्खी को चोट लगते ही वह मर गयी। माँ ने मरी मक्खी को शीघ्रता से हाथ में ले लिया। बहुत लोग उपस्थित थे। अनेक प्रकार के प्रसंगों में चार पाँच घण्टे कट गये। उसके बाद माँ ने मुट्ठी में से मरी हुई मक्खी को निकाल कर

मुझसे कहा, "यह मक्खी जो मर गयी है इसकी किसी प्रकार सद्गति का उपाय कर सकता है ?" मैंने कहा "सुना है कि मनुष्य की देह ही में स्वर्ग है।" यह कहकर मैं माँ के हाथ से उस मक्खी को लेकर निगल लिया।

माँ हँसते-हँसते बोलीं "यह क्या किया ? मक्खी खाने से उल्टी हो जाती है।" मैंने कहा "यदि आपके आदेशानुसार मेरे द्वारा इसकी सद्गति हो जावे तो मुझे कुछ नहीं होगा।" वास्तव में मुझे कुछ न हुआ।

माँ ने इस सम्बन्ध में बताया है "कीड़े-मकोड़े, मक्खी, कीट, पतंग, मनुष्य सभी तो एक ही परिवार के हैं। किसके साथ किसका जन्मजन्मान्तर का सम्बन्ध है कौन जाने ?"

एक धार्मिक मुसलमान (मौलवी जैनुद्दीन हुसैन) मेरे मित्र थे। वह हर समय ही ईश्वर चिन्ता किया करते थे। एक दिन बृहस्पतिवार को मैं और निरञ्जन शाम के समय उन्हें शाहबाग ले गये। देखा कि नाट मन्दिर में कीर्तन हो रहा है। हम तीनों कुछ दूर पर एक पेड़ के नीचे ऐसी जगह खड़े हो गये जहाँ से कीर्तन में से कोई हमें देख न सके। प्रायः आध घण्टे बाद देखा कि माँ नाटमण्डप से बाहर आ रही हैं। माँ हिलते डोलते तेजी से चलकर जहाँ हमलोग थे वहाँ आ पहुँचीं और दाहिने हाथ में मुसलमान भाई का शरीर छूकर टहलने लगीं। हम तीनों भी माँ के पीछे-पीछे चलने लगे। शाहबाग में एक कोने में एक मुसलमान फकीर की क़ब्र है। माँ ने उस कब्र पर जाकर नमाज के नियमानुसार अङ्ग प्रत्यङ्ग चलाकर उठ और बैठ नमाज के वचन पढ़े। उनका साथ मुसलमान भाई ने भी दिया। नाटमण्डप

(नाचघर) में लौटने पर फिर से कीर्तन आरम्भ हो गया। मुसलमान भाई भी सबके साथ ताली बजा-बजा कर घूमने लगे। बृहस्पतिवार के दिन उस कब्र पर दिया और बतासा चढ़ता था किन्तु घटनाचक्र से वह आदमी जिस पर बतासा चढ़ाने का भार था उस दिन नहीं आया। माँ के कहने से उन मुसलमान ने वहाँ बतासे चढ़ाये। उस मुसलमान को कब्र पर चढ़े बतासे माँ को खिलाने की इच्छा हुई, माँ के पास बतासे का थाल ले जाते ही माँ ने मुँह खोल दिया तथा कुछ बतासे इस प्रकार माँ को खिला दिये गये। उन्होंने भी हरि-लूट का प्रसाद ग्रहण किया। वह खूब कट्टर मुसलमान थे। माँ को देखने से पहले उनके विचार भी अन्य प्रकार के थे। लेकिन मैंने देखा कि उक्त घटना के बाद से माँ के ऊपर उनकी अटल श्रद्धा और विश्वास जाग्रत हुआ।

माँ ने और भी एक दिन एक मुसलमान बेगम के अनुरोध से उसी कब्र पर नमाज पढ़ी थी। वे शिक्षिता थीं। उन्होंने बताया कि नमाज एक ही है। माँ ने बताया "जिस फ़कीर की समाधि इस कब्र में है उसके सूक्ष्म शरीर को ४, ५ वर्ष पूर्व मैंने मैमनसिंह (बाजितपुर) में देखा था। ढाका शाहबाग आने पर भी उनके तथा उनके शिष्य के साथ मेरी भेंट हुई थी। फकीर साहब खूब लम्बे चौड़े तथा अरब देशीय थे।" खोज करने पर ऐसा ही जाना गया था।

एक बार माँ विक्रमपुर में रायबहादुर योगेशचन्द्र घोष के घर गयीं। वहाँ उस दिन हरिनाम कीर्तन हो रहा था। माँ को भाव हुआ। प्रायः डेढ़ सौ या दो सौ हाथ दूरी पर अंधेरे में एक मुसलमान लड़का हिन्दुओं जैसा कपड़ा पहिने छिपा बैठा था। माँ

भीड़ ठेलती हुई उसके पास पहुँच "अल्ला हो अकबर" इत्यादि कहने लगीं। लड़के ने भी रोते-रोते माँ का साथ दिया। वह बोला "जिस प्रकार सहज और स्पष्ट भाव से माँ के मुख से 'अल्ला' का नाम निकला उस प्रकार हम हजार चेष्टा करने पर भी नहीं निकाल पाते। माँ के साथ अल्ला का नाम लेने में जो आनन्द मिला वह समस्त जीवन में नहीं पाया।"

एक विशिष्ट मुसलमान परिवार में माँ ने 'हरिनाम' का प्रवर्तन किया था। 'हरिनाम' करते-करते उन लोगों की आँखों से आँसू गिरने लगते थे। हिन्दू देव-देवियों को वे मानते थे तथा माँ को विशेष रूप से श्रद्धा करते थे। इस प्रसङ्ग में माँ ने कहा हिन्दू-मुसलमान एवं अन्यान्य जाति के सभी तो एक ही हैं, एक जन को ही सब चाहते हैं और पुकारते हैं, नमाज और कीर्तन सब एक ही तो हैं।"

श्री कालीप्रसन्न कुशारी तथा उनकी स्त्री श्रीमती मोक्षदा सुन्दरी देवी (पिताजी की बहिन) माँ से बहुत स्नेह करते थे, माँ को समीप पाने पर उनकी प्रत्येक लीला में श्रद्धा और विश्वास से योग देते थे। एक बार कुशारी महाशय ढाका आये। एक दिन शाहबाग में अनेक आध्यात्मिक चर्चा करने के बाद जब जाने को प्रस्तुत हुए तो हँसते-हँसते बोले, "यदि आप में शक्ति है तो मुझको भस्म तो कीजिये ?" ऐसा कह कुछ जलती हुई अगरबत्ती हाथ में लेकर रवाना हुए। पिताजी तथा माँ भी कहीं जाने वाले थे। वे भी उनके साथ हो लिये। खूब धूप हो रही थी, कुशारी महाशय अपने छाते से माँ के ऊपर छाँह करते चले रहे थे। इसी बीच में सहसा कुशारी महाशय चौंक कर बोले "अरे यह सिर पर

आग कहाँ से बरस रही है ? मुझे भस्म कर रही है क्या ? अब मैं आपकी शक्ति का परिचय पा चुका हूँ और मत जलाइये ।" जल्दी से ऐसा कहते हुए छाते की ओर देखने लगे, इसी बीच में छाता थोड़ा जल गया था ।

एक दिन एक आदमी कुछ फूल माँ के पैरों पर चढ़ा गया । उनमें से कुछ फूलों को ले उनकी पुंखुड़ियाँ तथा पराग आदि अलग कर माँ ने स्थूल, सूक्ष्म और बहिर्जगत् के विषय में बहुत कुछ आलोचना कर भगवान् की अनन्त लीला समझा दी ।

देश-विदेश में भ्रमण करने के सम्बन्ध में माँ ने कहा, "मैं देखती हूँ कि सारा संसार एक बाग है । जीव, जन्तु, वृक्ष, लता, सभी इस बाग में नाना प्रकार से खेल रहे हैं, सभी की अपनी विशेषता है, यह सब देख मुझे आनन्द होता है । तुम सबने मिलकर बाग का ऐश्वर्य बढ़ा दिया है । मैं बाग के एक कोने से दूसरे कोने को यदि जाऊँ तो तुम इतने व्याकुल क्यों हो जाते हो ?"

१९३१ ई० में मैदान में घूमते-घूमते एक दिन माँ बोलीं "प्रार्थना साधना का विशेष अंग है । प्रार्थना की शक्ति अमोघ है एवम् प्रार्थना में ही जीव और जगत् का प्राण है । जिस समय जो हृदय में आवे 'उन्हें' बताना तथा सरल और व्याकुल हो उनके प्रति शरणागति की प्रार्थना करना ।" उस समय मैंने अखबार में पढ़ा था कि लार्ड इरविन ने वायसराय होकर यहाँ भारत में आने से पहले अपने पिता की राय ली तो उनके पिता ने कहा "तुम फलाफल के विषय में कुछ मत सोचो, यह हम लोगों के हाथ में नहीं है, फिर भी प्रार्थना आदि से भविष्य का आभास मिल सकता

है । फिर दोनों पिता पुत्र ने गिरजे में जा उपासना की । वहाँ से निकलकर पिता ने कहा "तुमको भारत जाना ही होगा ।" लार्ड इरविन ने कहा "मुझे भी ऐसा लग रहा है ।" माँ ने यह सुनकर कहा "बहुत अच्छी बात है । केवल बालक के समान विश्वास चाहिए । अभ्यास से ही विश्वास की भित्ति उठती है शुद्ध विश्वास होने से सरल प्रार्थना आती है । प्रार्थना में सत्य का भाव जाग्रत होने से वे कृपा करके फल के स्वरूप में प्रगट होते हैं ।"

अन्य एक दिन माँ ने बताया "कृपा का अर्थ ही है अहैतुकी कृपा । जब कृपा होने को ही है तब उनकी इच्छा से ही कृपा अवतरित होती है । जैसे, जिस प्रकार बच्चा खेलते खेलते माँ को भूल गया, माँ ने स्वयम् जाकर उसे गोद में ले लिया । बालक ने पुकारा भी नहीं पर माँ का स्नेह प्रगट हो गया । तुम लोग कहोगे कि कृपा पूर्वजन्म के सुकृतों का फल है । यह एक तरह से सत्य होने पर भी दूसरी ओर वह स्वाधीन है इसलिए कृपा का कारण क्या है ऐसे प्रश्न उठने पर भी आलोचनीय व जिज्ञास्य नहीं है । उनकी कृपा तो सबके ऊपर समान भाव से है । जब जिसमें कृपा लाभ करने का उपयुक्त समय अथवा योग्यता होती है तब वह स्वयं अनुभव करता है कि वह कृपालाभ कर रहा है । एक आश्रय ले उसके साथ अविच्छिन्न रूप से रहने की चेष्टा कर तब देखेगा कि जैसे बाँस से लगी बाल्टी कुएँ में डाल देने से पानी भर कर अनायास ही ऊपर चली आती है उसी प्रकार उनकी कृपा भी निरन्तर पायेगा ।" इसी प्रसंग में माँ से पूछा गया कि जिन्होंने भगवान् का दर्शन पाया है क्या वे किसी और को भी भगवद्दर्शन करा सकते हैं ? माँ ने कहा, "जिसके देखने का समय होता है

वही देख पाता है। फिर भी जिन्होंने उनका दर्शन पाया है वे पथ-प्रदर्शक हो सकते हैं।"

एक दिन माँ के साथ जन्मान्तर सम्बन्धी बात चल रही थी। माँ बोली "जन्मान्तर सत्य है। आँखों में मोतियाबिन्द होने पर उसे काट दिया जाय तो जिस प्रकार देखने की शक्ति फिर लौट आती है उसी प्रकार ध्यान-योग से विशुद्ध-बुद्धि स्वरूप में अवस्थित होने पर मन्त्र और देवतत्त्व का विकास लाभ होता है, पूर्वजन्म के संस्कार चित्त में प्रकट होते हैं। जिस प्रकार ढाका में बैठे हुए कलकत्ते की कल्पना कर वहाँ की धारणा कर सकते हो, उससे भी स्पष्ट रूप में पूर्वजन्म का चित्र अन्तस्तल पर प्रतिबिम्बित हो सकता है।" माँ ने कहा "तुम लोगों को देख कभी-कभी तुम लोगों के जन्मजन्मान्तर का चित्र आँखों के सम्मुख आ जाता है।" एक बार माँ के कलकत्ते जाने पर एक भद्र पुरुष, उनकी पत्नी तथा उनका सात आठ बरस का लड़का माँ को देखने आये। माँ लड़के को देखते ही बोलीं "पूर्वजन्म में यह लड़का इस शरीर (माँ) का भाई था।" माँ का एक भाई बहुत छुटपन में मर गया था। मृत्यु के पहले कुछ चोट लगने से उसका एक हाथ टेड़ा हो गया था। उस लड़के का भी एक हाथ टेड़ा था।

कभी-कभी माँ में असीम अलौकिक तेज तथा साहस लक्षित होता है; भयभीति का लेश भी नहीं देखा जाता। तब जो उनके मन में आये या मुख से बाहर हो वह कार्यरूप में परिणत होगा ही। उनकें भाव और कर्म यदि स्वच्छन्द रूप से चलते रहें तो प्राणिमात्र का कल्याण ही होगा, कुछ बाधा देने से अनेक

समय अमङ्गल घटता है । बचपन में भी माँ की ऐसी ही लीला थी । चार पाँच बरस की आयु में माँ रोज सुबह अपनी ताई के यहाँ मट्ठा लेने जाया करती थीं । एक दिन मट्ठे के लिए जब माँ गईं तो उनकी ताई नाराज होकर बोलीं "रोज मट्ठा पीती है, जा आज नहीं मिलेगा ।" वह ऐसा कह ही रही थीं कि दधिमथन की हड़िया फूट गयी और सब दही फैल गया । वह अवाक् हो माँ की ओर देखने लगीं । इसके बाद से यदि माँ को स्वयम् कभी देर हो जाती तो भी वे उन्हें बुलाकर मट्ठा देती थीं ।

माँ फूल जैसी कोमल होने पर भी कभी कभी हम लोगों के कर्मवश वज्र से भी कठोर हो जाती हैं । एक बार किसी व्यर्थ की बात पर माँ ने मुझसे कहा "जा दूर हो जा ।" एक बार माँ का आदेश उल्लघंन करने पर माँ मौन हो गयी थीं । इस प्रकार की अनेक घटनाएँ हैं जबकि मुझ पर उनके शासन की पराकाष्ठा ही हो गयी थी । कुछ गलती करने पर दुःखित हो माँ की अमृतवर्षिणी दृष्टि की करुणा से चित्त शुद्ध तथा शान्त हो जाता है । किन्तु यदि मन में क्रोध और अभिमान रहे तो बिना पश्चात्ताप किये हृदय में मर्मभेदी पीड़ा होती रहती है । एक बार पिताजी मेरा पक्ष ले माँ को समझा रहे थे तो माँ ने कहा "जिस पर कठोर व्यवस्था होने पर भी जो सह सकता है, उसी पर ऐसी कठोर व्यवस्था होती है । पेड़ काटने के लिए जैसे पहले कुल्हाड़ी फिर हसिया चाहिए तथा डाल तोड़ने के लिए हाथ ही काफी है, उसी प्रकार शासन कोमल तथा कठोर दोनों ही तरह का जरूरी है ।"

दुःखी और पीड़ित के कल्याण के लिए माँ की असीम कृपा अनेक रूपों में प्रकाशित होती है । माँ कहती हैं "मैं तो अपनी

इच्छा से कुछ करती या बोलती नहीं हूँ तुम लोग अपने भावानुसार जो करवाते तथा बुलाते हो वही करती और बोलती हूँ। अनेक समय किसका क्या होगाा यह मैं जान लेती हूँ किन्तु बोल नहीं पाती।" कितने ही लड़के-लड़कियाँ परीक्षा में सफलता, कितने लोग नौकरी, व्यवसाय, कन्या के विवाह, पुत्र-लाभ, रोगमुक्ति इत्यादि में प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप में माँ की कृपा-लाभ कर चुके हैं उसकी गिनती नहीं है। अनेक को रोगमुक्त करने के उद्देश्य से अपने अंग-प्रत्यंग में चोट लगाकर उनके लिए स्वयम् दुःख भोगा है, इसकी सीमा नहीं है। ऐसा भी देखा गया है कि जिन लोगों के दुःख, अशान्ति की खबर दूसरे के मुख से सुनने अथवा माँ के मन मे स्वतः ही उसका चित्र सामने आ जाने से उन्होंने सुख और शान्ति-लाभ किया है। माँ से सुना है कि जिस विषय को देख या सुन कर माँ का स्मरण हो उठे, उसकी सदा ही सुव्यवस्था हो जाती है। अनेक ही रोग में, शोक में, तथा स्वप्न में माँ का दर्शन पाकर धन्य हुए हैं।

एक बार एक १२ साल की लड़की को लकवा मार गया था। उसके बाप उसे माँ की शरण में लाये। माँ ने उस लड़की से जमीन पर इधर-उधर लुढ़कने को कहा। वह मुड़ तक नहीं सकती थी इधर उधर कैसे लोटे ? माँ ठाकुर-पूजा के लिए सुपारी काट रही थीं। उसके दो टुकड़े फेंककर उससे बोलीं "ले, हाथ बढ़ा कर ले !" उसने बड़ी मुश्किल से उन्हें लिया। फिर वे लोग चले गये। घर में जाकर लड़की लेटी रही, शाम को बाहर रास्ते में एक गाड़ी की आवाज सुन सहसा बिछौने से कूद कर गाड़ी देखने दौड़ गयी। इसके बाद वह धीरे-धीरे चलने फिरने लगी।

भाईजी माँ के पश्चात् सूक्ष्म शरीर में

एक दिन ढाका में मैदान में घूमते-घूमते माँ बोलीं "रास्ते में जो गाड़ी जा रही है उसे ठहरा दो ।" गाड़ी ठहरायी गयी, माँ उसमें चढ़ गयीं । गाड़ी वाले ने पूछा "कहा जायेंगी ?" माँ हँसते-हँसते बोलीं, "तुम्हारे घर ।" वह जाति का मुसलमान था । माँ की यह बात सुनकर बिना कुछ कहे वह माँ को अपने घर ले गया । वहाँ जाकर देखा कि एक वृद्ध मृतप्राय अवस्था में पड़ा है, आस-पास उसके सम्बन्धी रो रहे हैं । माँ ने मुझसे कहा, "कुछ मिठाई तो ले आ ।" मिठाई मँगवा कर सबको बाँटी, फिर माँ लौट आयीं । बाद में सुना गया कि वह उस बार नीरोग हो गया । कभी-कभी किसी रोगी से माँ कहती हैं कि आँख बन्द कर शाम के समय जमीन पर जो कुछ मिले उसका सेवन करो । ऐसा करने से वह अच्छा हो जाता है । कभी रोगी को अपना आहार—दाल, चावल, तरकारी खिला देती हैं तथा उसका पथ्य साबूदाना, बार्ली स्वयम् ग्रहण करती हैं । ज्वर तथा पेट के दर्द में भी माँ के आदेश के अनुसार विपरीत भोजन करके भी अनेक ही नीरोग हुए हैं ।

मेरा पन्द्रह सोलह साल का लड़का रामानन्द दस बारह दिन से रक्त अतिसार से ग्रस्त था । माँ एक रात उसे देखने आयीं । उसी समय से उसके स्वस्थ होने के लक्षण दीखने लगे किन्तु माँ को अगले ही दिन १२ घण्टे की खूनी पेचिस हुई । कभी ऐसा भी देखा गया है कि रोगी जब ठीक होने वाला नहीं है तो वह माँ का आदेश पाकर उसकी रक्षा अथवा पालन करने की अनेक चेष्टा करने पर भी असफल रह रहा है । ऐसी स्थिति में माँ के हावभाव से ही उसके निष्फल होने का आभास मिल जाता है । शास्त्रों ने इस बात को भी माना है कि तीव्र या उत्कट शुभ कर्मों के द्वारा

कृपा के अनुकूल होने से प्रारब्ध का खण्डन किया जा सकता है, किन्तु उस कृपा को आकर्षित करने का कर्म करना कठिन है, यदि अहैतुकी कृपा ही न हो ।

माँ कहती हैं "जब तक दृष्टि है तभी तक सृष्टि है । मैं, तुम, सुख, दुःख, प्रकाश, अन्धकार ये सब द्वन्द्व हैं । स्वाभाविक कार्य तथा स्वधर्म पर जोर दो, अभाव और इन्द्रियों के कार्य त्यागने पर अन्तरात्मा जाग्रत होगी । तब उसमें सृष्टि निबद्ध करने से दृष्टि और सृष्टि के द्वन्द्व का समाधान हो जायगा ।"

बचपन में माँ के लिखने पढ़ने की सुविधा नहीं थी तथा माँ भी उस विषय में विशेष मन नहीं देती थीं । किन्तु आश्चर्य यह है कि माँ पुस्तक के अंश को पढ़तीं उसी में से उनके शिक्षक यहाँ तक कि स्कूल इन्स्पेक्टर भी प्रश्न करते । इसीलिए वह एक अच्छी छात्रा कहलाती थीं । अपने आप पुस्तक पढ़ना या कुछ लिखना बचपन से ऐसी उनकी आदत न थी । फिर भी वह अलौकिक ज्ञानभूमि पर अवस्थित हैं । जब भी उन्होंने जिस विषय को लिया, उसमें उनकी असीम निपुणता प्रकाशित हुई ।

एक दिन माँ बातों-बातों में बोलीं "इटली क्या ?" दो एक दिन बाद सुबह इटेलियन प्रोफेसर मिस्टर टुसी शाहबाग आये । वे ढाका यूनिवर्सिटी में आये थे । साहब ने इङ्गलिश में किसी विषय में जिज्ञासा की । उसका अनुवाद कर माँ को बताने के पूर्व ही माँ ने संस्कृत में साहब के प्रश्न का समुचित उत्तर दे दिया ।

माँ की हस्तलिपि के लिए अनेक प्रार्थना की गयी थी । उन्होंने कहा—"मैं स्वेच्छा से तो कुछ करती नहीं हूँ, यदि समय होगा तो मिल जायगी ।"

सौभाग्यवश १९३७ बंगाब्द के आठ आषाढ़ को श्री श्री माँ की हस्तलिपि मिल गयी। वह बंगला "मातृ-दर्शन" में छपी है।

श्री श्री माँ के बहुत जगह फोटो लिये गये हैं। शायद अब तक ४०० प्रकार के फोटो खिंच चुके होंगे।[१] किन्तु आश्चर्य यह है कि एक तस्वीर का मुख दूसरी से सम्पूर्ण रूप से नहीं मिलता है। ढाका के श्रीमान् सुबोधचन्द्र दासगुप्त और चटगाँव के श्री शशिभूषण दासगुप्त तथा अन्य अनेक ने श्री श्री माँग के बहुत से फोटों खींचे हैं। १९३८ ई० में अक्टूबर के महीने में शारदीय उत्सव में शशि बाबू ढाका आये थे एवं हम कई लोग मिलकर एक दिन सुबह माँ का फोटो खींचने शाहबाग गये थे।

वहाँ जाकर सुना कि माँ कहाँ हैं यह कोई नहीं बता सकता।

खोज करने पर पता लगा कि एक अँधेरे कमरे में माँ पड़ी हैं। शशि बाबू उसी दिन शाम को ढाका से अपने देश लौट जाने वाले थे। इसलिए वे उसी समय माँ का फोटो खींचने के लिए आतुर थे। पिताजी से विशेष रूप से कह, हम दोनों माँ को पकड़ कर लाये और फोटो के लिए उन्हें बिठा कर हम कमरे के सामने से कुछ दूर हट गये। माँ का उस समय गद्गद् भाव था। तस्वीर हिल गयी। इस आशंका से शशि बाबू ने १८ प्लेट व्यवहार किये। बाद में चटगाँव से सूचना मिली कि १८ प्लेटों में से केवल आखिरी तस्वीर अच्छी आयी है एवं माँ के ललाट पर चन्द्राकार प्रकाश पुञ्ज की प्रतिच्छाया दिखाई देती है। और विशेषता

---

१. यह १९३८ की बात है।

यह थी कि माँ के पीछे मेरी तस्वीर भी आयी है। इस सम्बन्ध में उनके एक पत्र का कुछ अंश नीचे उद्धृत किया गया है।

फोटो के प्रिंट आने पर किसी-किसी ने कहा कि यह चित्रकार का कौशल है। इस सम्बन्ध में माँ ने पीछे बताया "जब अँधेरे कमरे में यह शरीर था, तब कमरे के चारों ओर एक ज्योति से भर उठा था। फोटो खींचने के लिए जब इस शरीर को बाहर लाया गया तो तब भी वह प्रकाश था। क्रमशः वह संकुचित हो कपाल पर केन्द्रित हो गया था। मुझे ऐसा ख्याल हुआ कि ज्योतिष भी मेरे पीछे है। अब यह ऐसा क्यों यह तुम्हीं समझो।" वह तस्वीर इस अध्याय में दी गई है।

शशि बाबू ने इस प्रसंग में मुझे लिखा था—"उक्त फोटो खींचते समय १८ प्लेट व्यवहार किये। पहले कुछ प्लेटों में तो कुछ भी नहीं आया। बाद वाले प्लेटों में कुछ छाया मात्र सी आयी। केवल अन्तिम ही में माँ की तस्वीर पूर्ण रूप से आयी। आप कैमरा की सीमा से बहुत दूर थे एवं माँ की ओर देखते हुए मुझे फोटो खींचने के लिए इशारा कर रहे थे। पहले से ही प्रत्येक फोटो लेते समय मुझे भय लग रहा था ओर फोटो खराब हो जाने की आशंका से दुःख हो रहा था। अन्तिम प्लेट को Expose करते हुए मेरा मन अपूर्व आनन्द से भर गया। तब से मैंने माँ के चरणों में ही आश्रय लिया है। आजकल के दिनों में यदि इस प्रकार की घटना होती तो मेरी अवस्था क्या होती कह नहीं सकता।"

आश्रम

ढाका में श्री श्री माँ के एक आश्रम का अभाव सभी अनुभव कर रहे थे। एक दिन चाँदनी रात थी। मैं शाहबाग गया। माँ ने कहा "चल, मैदान में चलें।" पिताजी, माँ और मैं रमना के मैदान में जहाँ टूटा मन्दिर था उससे कुछ दूर जा बैठे। मैंने माँ के चरणों में निवेदन किया "शाहबाग में सर्वदा कीर्तन चलेगा नहीं, एक आश्रम की आवश्यकता है"। माँ बोलीं "सम्पूर्ण जगत् ही तो आश्रम है, नया आश्रम बना कर क्या करेगा ?" मैंने कहा "हम लोग कुछ अधिक तो चाहते नहीं हैं केवल एक ऐसा स्थान चाहते हैं जहाँ आपके चरणों के चारो ओर बैठकर हमलोग कीर्तन कर सकें।" पिताजी ने भी मेरी बात में हाँ में हाँ मिलाया। माँ तब बोल उठीं। "यदि ऐसा ही कुछ करे तो यह टूटा घर है न, यही जगत् प्रशस्त है, यह तुम लोगों का पुराना घर है।" ऐसा कह हँसते-हँसते चुप हो गयीं। उस समय उस जगह पर एक टूटा शिव मन्दिर था, उसके चारों ओर ईट, पत्थर का जङ्गल था। वहाँ अनेक प्रकार के साँप दिखाई दिया करते थे। आश्रम-प्रतिष्ठा के बाद भी वहाँ बड़े-बड़े साँप देखे। माँ तब किसी-किसी सोमवार को इस टूटे शिव मन्दिर में दूध केला चढ़ाया करती थीं। एक सोमवार को नयी हड़िया में पाँच सात केले तथा कुछ कच्चा दूध रखा गया। सात दिन के बाद प्रायः रात के नौ दस बजे माँ ने जाकर देखा कि दूध केला जैसा

रखा गया था वैसा ही रखा हुआ है, एक चींटी तक वहाँ नहीं आयी। माँ ने जब स्वयम् वह दूध पीना चाहा तो बहुतों ने विरोध किया कि इतने दिनों से रखा हुआ दूध विषाक्त हो गया होगा। किन्तु माँ जो कहती हैं करके रहती हैं, उन्होंने एक घूँट पिया तो सब प्रसाद पाने के लिए व्यग्र हो उठे। बाकी वहाँ छोड़ दिया गया। दूसरे दिन सुबह वहाँ जाकर देखा तो हाँड़ी खाली मिली, मानो सब किसी ने चाट लिया हो।

खोज करने पर पता लगा कि पूर्वोक्त स्थान रमना काली की सम्पत्ति है। वहाँ के पुजारी श्रीयुत नित्यानन्द गिरि से पूछने पर उन्होंने कहा कि ६०००) से कम में यह जमीन नहीं देंगे। कुछ महीने बाद स्वर्गीय निरंजन के ढाका आने पर मैंने रुपया इकट्ठा करने की चेष्टा की। किन्तु कुछ न कर सका। १९२७ ई० के आरम्भ में मैं खूब बीमार हो गया। एक दिन निरञ्जन ने कहा, "मैमनसिंह गौरीपुर के जमींदार श्रीयुत ब्रजेन्द्रकिशोर राय चौधरी ने (१०००) दिये हैं, तुम जल्दी ठीक हो जाओ तो कुछ किया जायगा। निरंजन ने धीरे-धीरे और भी कुछ अर्थ संग्रह किया। किन्तु वह साधु ६०००) से कम में किसी तरह भी जमीन देने को राजी न हुए। प्रायः डेढ़ साल बीमार रह मैं फिर ढाका जाकर काम करने लगा। बहुत सी और जगहें भी आश्रम के लिए देखीं किन्तु माँ की बतायी हुई जगह को छोड़ और कोई जँची नहीं। किंकर्तव्यविमूढ़ होकर बैठ गया। १९२९ ई० के शुरू में माँ कलकत्ते में थीं। श्रीमान् विनयभूषण बनर्जी ने ढाका से कलकत्ते जाकर माँ के साथ आश्रम सम्बन्धी बातें कीं। उसने मुझे आकर इसे बताया मन में एक नवीन उत्साह जाग्रत हुआ। मैंने एक दिन

निश्चय किया कि आज ही गिरिजी से मिल कर अन्तिम निर्णय करूँगा। यह सोच कर जब घर से निकला तो देखा कि माँ की छायामूर्ति संग-संग चल रही है, तभी मुझे निश्चय हो गया कि आज कार्य सफल होगा। गिरिजी ने कहा "जब आप इतने रूपये नहीं दे पा रहे हैं तो कोई अस्थायी बन्दोबस्त कीजिए, अन्य स्थायी व्यवस्था बाद में हो सकती है। काली मन्दिर तो आप ही लोगों का है, उचित समझें वही कीजिए।" अनेक बहस के बाद ५००) नजराने के रूप में तथा ३००) सालाना मालगुजारी देने की शर्त हुई। इस प्रकार का बन्दोबस्त बहुतों को पसन्द नहीं आया, आ भी नहीं सकता। किन्तु आश्रम के लिए यही उपयुक्त स्थान था। माँ का आश्रम है वे ही जो जरूरी होगा करेंगी। हमलोगों को भविष्य के बारे में सोचना व्यर्थ है, यह सोच कर जमीन ले ली गयी। श्रीयुत् मथुरानाथ वसु, श्रीयुत् निशिकान्त मित्र तथा वृन्दावनचन्द्र बसाक इस विषय में विशेष उद्योगी थे। १३३५ बंगाब्द ३१ चैत्र (१९२९-१३ अप्रैल) उस पुराने टूटे घर में माँ का चरण स्पर्श कराया गया। निरञ्जन तब अपनी स्त्री के वियोग से व्यथित था। उस दिन वह भी वहाँ उपस्थित था। दो महीने बाद उसकी मृत्यु हुई थी। उसके ही माँगे हुए धन से आश्रम की भित्ति उठी, वे स्वामी-स्त्री यद्यपि आज जीवित नहीं हैं किन्तु माँ की चरण-रज के साथ उसका सम्बन्ध बना ही है। आश्रम के सम्बन्ध में माँ ने कहा था-आश्रम का माने ही है शुद्ध स्थान, जहाँ आने से मन में धर्म भावना उठे। सभी यह चेष्टा करें कि इसका वातावरण दिन रात साधन, भजन, सत्‌चिन्ता तथा सदालोचना आदि से विशुद्ध रहे। रहने के लिए २।१ छोटी-छोटी

कुटियाँ ही यथेष्ट हैं।" इसी कारण सबसे पहले माँ के लिए एक छोटी सी झोपड़ी बनी।

श्री श्री माँ का चलना-फिरना या भाव का खेल अचिन्तनीय रूप से अद्भुत है। कब क्या करती हैं तथा क्यों करती हैं इसे समझने या रोकने की चेष्टा व्यर्थ है। १९ वैशाख १३३६ बंगाब्द (१९२९ ई० २ मई) को श्री श्री माँ ने नये रमना आश्रम में प्रवेश किया। चारों ओर आनन्द ही आनन्द था। श्रीयुत बाउलचन्द्र बसाक ने आकर माँ को फूलों की माला मुकुट और कुण्डलों से कृष्ण रूप में सजाया। माँ भी सबके साथ हँसती खेलती रहीं। मैंने देखा कि इतने आनन्द में भी मानो सब निरानन्द हैं। मैं अकेला खड़ा माँ के हावभाव लक्ष्य कर रहा था। मुझे ऐसा लगा मानो उनकी दृष्टि तथा मन उदास हो इधर-उधर भटक रहा है। रात में दो बजे मैं घर लौट आया। दूसरे दिन शाम को पिताजी हमारे मुहल्ले में आये थे। किसी ने आकर सूचना दी कि वे शीघ्र ही आश्रम लौट आयें। पिताजी के साथ मैं भी वहाँ गया। रात के उस समय दस या साढ़े दस बजे होंगे। देखा कि सब उत्कण्ठित तथा दुःखी हैं। श्री श्री माँ आश्रम की सीमा से बाहर मैदान में बैठी हैं। मैंने सुना कि माँ सुबह से ही बाहर ही बाहर घूम रही हैं। पिताजी को देख माँ बोलीं, "इस शरीर के पिता के साथ कुछ दिन घूम जाऊँ, तुम आश्रम में रहो।" पिताजी ने अनेक प्रतिवाद के बाद "अच्छा" कह कर सम्मति दी। अनेक ही माँ के साथ रेल के स्टेशन तक गये। मैं और पिताजी आश्रम में रहे। बाद में हम भी स्टेशन तक आये। हम दोनों ने माँ का संकल्प बदलने की बहुत चेष्टा की किन्तु माँ एकदम स्थिर थीं।

मैमनसिंह की गाड़ी छूटने ही वाली थी। माँ गाड़ी में चढ़ गयीं, पिताजी ने मुझे माँ के साथ जाने का आदेश दिया और कहा कि यदि माँ मना भी करें तो तुम किसी और डिब्बे में बैठ जाना। उनकी बात मानकर मैं भी माँ के साथ रवाना हुआ। इस तरह रात को हठात् एक वस्त्र से मैमनसिंह की यात्रा के लिए चला तो मन में जो संघर्ष चल रहा था वह कहा नहीं जा सकता। सूर्य कर्मनिष्ठ है यह अत्यन्त सत्य है, प्रभात के प्रकाश के साथ ही आफिस और परिवार के अनेक कर्तव्य याद आने लगे। मनुष्य की कैसी दुर्गति ! संसार श्रृंखला का कैसा अटूट बन्धन है। जिसकी पदधूलि के स्पर्श के लिए अनेक वर्षों से प्राण आकुल था, जिन्होंने यम के हाथ से मेरा उद्धार किया उन्हीं के चरणों में बैठने का सौभाग्य प्राप्त कर भी मन भारी निरानन्द था। मुझे स्वयम् ऐसा लगा, मानो हमारी भक्ति श्रद्धा तो केवल क्षणिक उच्छ्वास है, यथार्थ में तो हम भोगवासना ही के सेवक हैं। माँ भी ऐसा ही कहती हैं "तुम लोगों की भक्ति और प्रीति तो शरीर पर हवा के समान ऊपर ही ऊपर खेलती है। अन्तर में जो अमृत का भण्डार है, उसे ही यदि नहीं खोल पाओगे तो असली वस्तु कहाँ से दे सकोगे ?" मैमनसिंह स्टेशन पर पहुँच कर मैंने माँ से पूछा "कहाँ जावेंगी ?" माँ ने कहा "पहाड़ की ओर।" मैंने कहा "वर्षाकाल आने वाला है, वृद्ध पिता को लेकर पहाड़ पर जाना क्या ठीक होगा ? यदि आप अकेले में रहना चाहती हैं तो काक्सबाजार समुद्र के किनारे चलें।" माँ चुप रहीं। साधारणतया देखा गया है कि माँ कोई बात दुहराती नहीं हैं। जब जो आदेश का संकेत हो तब बिना प्रतिवाद किये उसका पालन करना ही हम लोगों के

लिए उचित है। नहीं तो अनेक समय अनिष्ट घटता है। अनेक सोच विचारके बाद शाम की गाड़ी से काक्सबाजार चले। आशुगंज स्टेशन पर गाड़ी पहुँचते ही मेह बरसने तथा हवा चलने लगी। माँ ने कहा "यह क्या देख रहा है? कल और भी देखेगा।" दूसरे दिन चटगाँव पहुँच काक्सबाजार के लिए स्टीमर पर चढ़े। स्टीमर जब नदी पार कर समुद्र में पहुँचा तो तूफान आ गया। जहाज खूब हिलने लगा, जहाज के ऊपर से लहरें जाने लगीं। यात्री भयभीत होकर चिल्ला रहे थे, रो रहे थे किन्तु माँ का आनन्द कौन देखे?

समुद्र की क्रीड़ा देख माँ बोलीं "देख कैसा अखण्ड कीर्तन चल रहा है, भक्ति और साधना द्वारा यदि मनुष्य उन्नति करना चाहे तो इस प्रकार के अखण्ड भाव से श्रवण, स्मरण और कीर्तन की आवश्यकता है।

काक्सबाजार में हमलोग आदिनाथ गये। मैं ढाका लौट आया। माँ वहीं रहीं। कुछ दिन बाद पिताजी आकर माँ को आदिनाथ से कलकत्ते ले गये। वहाँ से माँ अपने पिताजी के साथ हरिद्वार चली गयीं।

बाद में सहस्त्रधारा (देहरादून), अयोध्या, वाराणसी, विन्ध्याचल, नवद्वीप इत्यादि जगह घूम कर कलकत्ते जा पिताजी को भी साथ लेकर चाँदपुर आयीं। माँ के साथ कलकत्ते में मेरी भेंट हुई। मैंने सुना कि माँ बहुत दिनों से अपने भाव में जमीन पर चुपचाप पड़ी रहती हैं, मामूली कुछ फल और शरबत लेती हैं। मैंने देखा कि माँ यंत्रवत् किसी तरह चलती-फिरती हैं। माँ की उस समय की अवस्था देखकर मैंने सोचा कि भगवान् भी जब

मनुष्य देह धारण करते हैं तो उन्हें भी मनुष्यों के समान माया जगत् के अधीन होकर चलना होता है।

कुछ दिन बाद माँ और पिताजी चाँदपुर से ढाका सिद्धेश्वरी आश्रम में रहे। पिताजी बहुत बीमार पड़ गये। वह अनेक कष्ट झेलकर उठे कि माँ एकदम मरणासन्न सी हो बिस्तरे पर पड़ गयीं। माँ के इस पीड़ा के सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है।

१९२९ ई० अक्टूबर के महीने में रमना आश्रम में टीन का एक छप्पर डाल कर काली मूर्ति वहाँ लायी गयी। १९३० ई० नवम्बर के महीने में एक रात एक चोर मूर्ति के हाथ तोड़ कर सोने के गहने चुरा ले गया। अब यह समस्या उठी कि खण्डित मूर्ति की पूजा नहीं हो सकती। इस विषय में अनेक स्थानों के पण्डितों से लिख कर पूछा गया। पण्डितवर श्री पञ्चानन तर्करत्न महाशय ने कहा कि यह ठीक है कि शास्त्र में खण्डित मूर्ति की पूजा का निषेध है किन्तु यहाँ जब एक विशिष्ट महापुरुष के आदेश और नैमित्तिक पूजा हो जाने पर भी कालीमूर्ति का विसर्जन न कर नित्य पूजा की व्यवस्था हुई है, तो वह जो विधान दें उसी के अनुसार चलना ठीक है। माँ के आदेशानुसार उसी मूर्ति का ही संस्कार कर पूजा होने लगी।[1]

इसके पहले मैं प्रायः माँ से काली मूर्ति के लिए मन्दिर बनवाने का निवेदन करता था। तब माँ ने एक दिन हठात् ही कहा था "एक वर्ष ठहर।" ठीक इसी समय अर्थात् १९३१ ई० पहली जनवरी को श्री नगेन्द्रनाथ राय और श्रीमान् भूपतिनाथ

---

१. वह मूर्ति आजकल आश्रम के मन्दिर-गह्वर में है।

मित्र के विशेष उत्साह और परिश्रम से मन्दिर की नींव पड़ गयी। मन्दिर की नींव खोदने पर चार पाँच बैठी हुई और लेटी हुई छोटी-बड़ी समाधियाँ निकलीं। इन समाधियों के सम्बन्ध में माँ ने एक दिन बताया था "यहाँ की सब जगह बहुत पवित्र है, पहले यह संन्यासियों का स्थान था। तू भी उनमें से एक था। मैंने इनमें से कई एक महापुरुषों को यहाँ रमना के मैदान में घूमते देखा है। साधुओं की आन्तरिक इच्छा थी कि उन लोगों की समाधि पर मन्दिर की स्थापना हो एवं इस तरह देवपूजा साधन-भजन द्वारा यह स्थान जनसाधारण के धर्मभाव को जाग्रत कर पवित्रता की रक्षा करे। इसीलिए आज यहाँ ये सब कार्य हो रहे हैं। जो इस अनुष्ठान के सम्पर्क में आये हैं और आवेंगे उन सबका ही उन महापुरुषों के साथ में कुछ न कुछ सम्बन्ध था। मैंने माँ से जिज्ञासा की "यदि मैं किसी जन्म में संन्यासी था, तो आज यह अवस्था क्यों है?" माँ ने उत्तर दिया "जिसके द्वारा जो काम करवाना आवश्यक है, कर्मक्षय न होने तक उसे उसी प्रकार के कामों में लिप्त रहना पड़ता है।"

आश्रम के बनने से पहले जब माँ शाहबाग में थीं तब रोज शाम को कीर्तन हुआ करता था, तथा पूर्णिमा और अमावस की रात को बड़ी देर तक चलता था, एक दिन पूर्णिमा को रात के समय मैं अपने कमरे में लेटा था, ११ बजे का समय होगा, मैं तब तक जाग रहा था। मेरे कान में "हरे मुरारे मधुकैटभारे" की मधुर ध्वनि बहुत देर तक आती रही। शायद माँ आज कीर्तन में इस पद को गा रही होगीं-मेरे मन में ऐसा भाव उठा। दूसरे दिन जाकर मैंने मालूम किया कि सचमुच माँ ने रात्रि में "हरे मुरारे

मधुकैटभारे गोपाल गोविन्द मुकुन्द सौरे" का केवल प्रथम अंश ही गाया था। किन्तु दुर्भाग्य ! ऐसा कृपामय आकर्षण होते हुए भी कीर्तन के लिए प्रेम न आता था। एक दिन शाम को मैं और निरंजन शाहबाग गये। कीर्तन हुआ। माँ ने आदेश दिया "आज जिन्होंने कीर्तन में योगदान नहीं किया है, वे सब नाम करें।" मैंने और निरंजन ने अन्य जनों के साथ लज्जा और संकोच के साथ अस्पष्ट स्वर में नाम किया, किन्तु माँ के आदेश का अक्षरशः पालन नहीं कर सका इसके लिए मन में ग्लानिं होने लगी। हठात् माँ बोल उठीं "आज तो शनिवार है, कल रविवार है, आज रात को तुम सब मिल कर कीर्तन ही क्यों न करो ?" निरंजन घर लौट गया, मैंने सारी रात कीर्तन में ही काटी। रात्रि के अन्तिम पहर में माँ ने प्रभाती सुर में "हरि हरि हरि हरि हरि हरि हरि बोल" गाया। मेरे प्राणों में एक अपूर्व उद्दीपना हुई। उस दिन से मुझे विश्वास हो गया कि साधन भजन में कीर्तन का स्थान किसी भी साधन से कम नहीं है। आज भी आश्रम में प्रत्येक शनिवार को जो कीर्तन होता है, वह उक्त रात (१९२६ ई० नवम्बर) से ही आरम्भ हुआ था। उसी दिन रात को हरिनाम के साथ माँ का नाम भी संयुक्त हुआ। उसके कुछ दिन बाद सप्ताह के प्रति दिन एक न एक के घर कीर्तन होने की व्यवस्था हुई।

शाहबाग में कीर्तन के समय 'हरिबोल' कीर्तन ही अधिक होता था। बहुत बार मैं यह सोचता कि जब माँ ही सबके सब भावों की लक्ष्य हैं तो 'माँ' नाम कीर्तन ही उपयुक्त है। किसी किसी से मैंने कहा भी किन्तु किसी ने भी ध्यान नहीं दिया। मैं स्वयम् कीर्तन कर नहीं सकता था, इसलिए चुप रहा। श्रीमान्

अनाथबन्धु, ब्रह्मचारी कमलाकान्त के आश्रम में योग देने पर उनसे भी मैंने कहा "कीर्तन में माँ नाम लाने की चेष्टा करते चलो।" श्रीयुत कुलदाकान्त बनर्जी तब शाहबाग में नये-नये ही आये थे, धर्म कर्म पूजा आदि में उनकी बहुत निष्ठा थी, किन्तु वे भी 'माँ' नाम उपयुक्त होगा कि नहीं इस विषय में कुछ निश्चय न कर सके। खैर, हरि और माँ नाम मिलाकर कीर्तन चलने लगा। मनुष्यों का संस्कार-गत अभ्यास सहज में ही नहीं छूट सकता। विशेषतः धर्मानुशीलन में जो दस जन करते हैं, वही करना हम लोगों का स्वभाव है। जो बहुत दिनों से चला आ रहा है उसमें उलट-फेर करने में मन में आशंका भी होती है।

तब मैं सोचता था कि मेरे ध्यान में तो माँ की ही तस्वीर रहती है। शरीर और मन माँ की चरणरज स्पर्श करने के लिए आतुर रहते हैं, आँखों के सामने माँ की मूर्ति ही रहती है, माँ की बातें सुनने के लिए प्राण आकुल रहते हैं, अन्तर की श्रद्धा भक्ति की धारा उन्हीं के चरणों की ओर प्रवाहित रहती है और कीर्तन के समय यदि "प्राण गौरांग नित्यानन्द" अथवा "एसो हे गौर, बसो हे गौर आमार हृदय प्रांगणे" इस प्रकार का कीर्तन करूँ तो कीर्तन और मेरी चित्तगति का तनिक भी समन्वय नहीं हो सकता।

पूजा और ध्यान-धारणा की तरह कीर्तन का भी एकमात्र उद्देश्य अपनी चित्तवृत्ति को एकमुखी कर सब वासनाओं और कामनाओं को एगाग्र कर आराध्य देवता की ओर अभिमुख कर देना है। तब प्रायः ही मेरे मन में आता कि विविध पदावली के विचित्र भाव और राग में मन को आकृष्ट न कर इष्ट मूर्ति की ओर चित्त स्वतः ही आकर्षित हो ऐसा यदि गाने का भाव तथा सुर हो

तो भजन कीर्तन में प्राण आ जायगा तथा हमारे चित्त को भी परम आश्रय प्राप्त होगा।

यदि हम लोग एकनिष्ठ माँ के दास हो सकें तो एक माँ नाम के कीर्तन ही में साधु-भक्तों के पदों का माधुर्य तथा ऐश्वर्य खिल सकता है। माँ शब्द तो समस्त मानव जाति का आदि और नित्य शब्द है। पैदा होते ही यही पहला शब्द मनुष्य के मुख से निकलता है तथा जब तक जीवित रहता है तब तक वह प्रत्येक श्वास से ओम और निश्वास से माँ ही उच्चारित करता रहता है। विशेषतः यह माँ नाम सब जातियों और सम्प्रदायों की सहजात ध्वनि तथा परम सम्पद है।

यदि हम लोग वास्तव में माँ को जगत-जननी करके मानें तो नाम का कीर्तन ही हमारी सहज साधना होनी चहिए।

इस समय कीर्तन में माँ का नाम प्रयुक्त कर मैंने एक गान की रचना की। वह यहाँ उद्धृत किया जाता है :—-

हरषे विषादे किवा सुखे दुखे
हिन्दी (हर्ष में विषाद में अथवा सुख दुःख में)
डाको मा मा मा मा मा
(पुकारो माँ माँ माँ माँ माँ)
माँ माँ माँ माँ माँ माँ माँ माँ माँ माँ माँ माँ
मातृ गर्भ हते जखनि पड़िया
(मातृ-गर्भ से जभी बाहर आया)
निल तुलि कोले जननि आसिया
(माँ ने तभी गोदी में उठा लिया)

करिल दीक्षित मंत्रे ओंआ
(ओंआ मंत्र से किया दीक्षित)
डाकिते शिखिले मा मा मा
(माँ माँ माँ सीखा पुकारना)
आपनाते भर करिया आपनि
(अपने ऊपर भरोसा कर)
गियाछो भुलिया सेइ आदि ध्वनि
(भूल गया वह आदि ध्वनि)
ताइ वेदतंत्रे बेड़ाओं खुँजिया
(इसीलिए वेदतंत्र में ढूँढ़ते फिरो)
असीम अनन्त सीमा ।
(असीम अनन्त सीमा)
यदि हृदितत्त्व बूझिबारे चाओ
(यदि हृद्तत्त्व समझना चाहो)
नाम रूप सुर माँ बीजे डुबाओ
(नाम रूप सुर माँ बीज में डुबाओ)
भासो आँखि जले मा मा मा बले
(अश्रुपूर्ण नेत्रों से माँ माँ माँ बोलो)
करो पथेर सम्बल श्रीआनन्दमयी माँ
(करो जीवन पथ का सम्बल श्रीआनन्दमयी माँ)

१९२८ ई० के प्रारम्भ में मैं गिरिडि में था । सहसा एक दिन माँ व पिताजी वहाँ आ पहुँचे । मैंने उन दोनों से निवेदन किया कि

और आश्रमों की तरह हमारे आश्रम में भी कीर्तन के एक विशेष नाम का प्रयोजन है। आश्रम की भावधारा, विचारधारा और कर्मधारा का जो केन्द्र है, यदि साधन और कीर्तन का सुर भी उसी नाम के साथ केन्द्रित हो जाय तो साधन-प्रचेष्टा में अधिक बल होगा। हरि और माँ नाम संयुक्त कर अनेक पद रचे गये जिनमें से एक ढाका में कुलदा दादा के पास भेजना स्थिर हुआ। माँ के जाने के बाद उसे ढाका भेजूँगा, इसी समय मेरे मन में एक प्रबल भाव का उदय हुआ और केवल माँ नाम का ही एक नया पद बन गया।

माँ माँ माँ माँ माँ माँ माँ
बोलो माँ माँ माँ माँ
कहो माँ माँ माँ माँ
गाओ माँ माँ माँ माँ
भजो माँ माँ माँ माँ
जपो माँ माँ माँ माँ
बोलो, गाओ, भजो, जपो माँ माँ माँ[१]

यह ढाका कुलदा दादा के पास भेजा गया, उन्होंने लिखा इस पद ने सबको ही आकर्षित किया है एवं उसी प्रकार कीर्तन की व्यवस्था की गयी है।

---

१. जिस प्रकार एक सुर से ही सा रे ग म इत्यादि सप्त विभाग हैं, उसी प्रकार एक माँ को लक्ष्य करके माँ, माँ, माँ, माँ, माँ, माँ, माँ, इन सात शब्दों में कीर्तन का पद बना। अभ्यास हो जाने से एक ही लक्ष्य तथा एक ही ध्वनि के आश्रय से चित्त को एकाग्र करना होता है। तब भावोन्माद सहज होता है, उस एक ध्वनि की स्पन्दन ही में सारी देह और मन के स्पंदन में एकत्व होता है।

यही 'माँ' का प्रथम सूत्रपात हुआ। अभाव हुए बिना मनुष्य प्रकृत भाव में नहीं आ सकता। जब उपरोक्त कीर्तन का पद प्रवर्तित हुआ तब कई महीनों से माँ ढाका से बाहर थीं, इसीलिए वियोगी विरही भक्तों के हृदय में मधुर माँ शब्द की पुकार की मधुरता अन्तरतम में भर गयी थी।

जब रमना आश्रम तैयार हुआ तो माँ के मुख से निकले हुए सूक्तों (जिनका उल्लेख पहले हो चुका है) के पदों का रोज कीर्तन से पहले भजन की तरह गान होता था। १३३६ बंगाब्द (१९३१ ई०) अग्रहायण के महीने के अन्तिम में एक दिन माँ ने मुझे बुला कर कहा "यह स्तोत्र अपूर्ण है, किसी अन्य भजन की व्यवस्था नहीं कर सकता?" आदेश पालन किया, सोचने लगा कि संस्कृत में तो अनेक जटिल स्तव-स्तुतियाँ हैं, जिस पर भी यदि अपने गुरुभाइयों के लिए सरल संस्कृत भाषा ही में भजन बने तो अच्छा रहेगा। कुछ दिनों बाद श्री श्री माँ के कल्याणमय संकेत से रात के तीन बजे प्रेरणा मिली और निम्नलिखित गान आप से आप रच गया—

भजन

(जय) हृदयवासिनी शुद्धा सनातनी (श्री) आनन्दमयी माँ।
भुवन-उज्ज्वला जननी निर्मला पुण्यविस्तारिणी माँ॥
राजराजेश्वरी स्वाहा स्वधा गौरी प्रणवरूपिणी माँ।
सौम्या सौम्यतरा सत्या मनोहरा पूर्णा परात्परा माँ॥
रविशशिकुण्डला महाव्योमकुन्तला विश्वरूपिणी माँ।
ऐश्वर्यभातिमा माधुर्यप्रतिमा महिमामण्डिता माँ॥

रमा मनोरमा शान्तिशान्ता क्षमा सर्वदेवमयी माँ ।
सुखदा वरदा भक्तिज्ञानदा कैवल्यदायिनी माँ ।।
विश्वप्रसविनी विश्वपालिनी विश्वसंहारिणी माँ ।
भक्तप्राणरूपा मूर्तिमतीकृता त्रिलोकतारिणी माँ ।।
कार्यकारणभूता भेदाभेदातीता परमदेवता माँ ।
विद्याविनोदिनी योगि-जन-रंजिनी भवभयभंजिनी माँ ।।
मंत्रबीजात्मिका वेदप्रकाशिका निखिलव्यापिका माँ ।
सगुणा स्वरूपा निर्गुणा निरूपा महाभावमयी माँ ।।
मुग्ध चराचर गाहे निरन्तर तव गुणमधुरिमा ।
मोरा (हम) मिलि प्राणे प्राणे प्रणमि (श्री) चरणे जय जय जय माँ ।।

डाको माँ माँ माँ माँ माँ माँ माँ
बोलो माँ माँ माँ माँ माँ माँ माँ
गाओ माँ माँ माँ माँ माँ माँ माँ
भजो माँ माँ माँ माँ माँ माँ माँ
जपो माँ माँ माँ माँ माँ माँ माँ
डाको माँ माँ माँ माँ माँ माँ माँ
माँ माँ माँ[१]

●

१. ११ पौष बंगाब्द १३३६ रमना (ढाका) में रचित ।

नवजीवन के पथ पर

श्री श्री माँ के प्रथम दर्शन लाभ के बाद ही से संसार के अनेक विघ्न-बाधाओं और दुःखों में भी नित्यानन्दमयी माँ की छवि तथा उनकी सरल स्निग्ध दृष्टि मुझे हर समय पागल की तरह आकुल कर रखती थी। उनकी कृपा-प्राप्ति के लिए हृदय में हर समय उत्कण्ठा रहती थी। महासागर की तरङ्गों का उच्छ्वास जिस प्रकार शून्य (आकाश) की ओर होता रहता है उसी प्रकार मेरे हृदय में माँ के चरणों को लक्ष्य कर दिन रात उच्छ्वास ध्वनि होती रहती थी। कभी कभी 'माँ' 'माँ' कह कर चिल्लाने से कुछ शान्ति बोध करता था। किन्तु आरम्भ में ऐसा सुयोग भी कम ही होता था।

श्री श्री माँ की स्थूल मूर्ति में नाना भावों के दर्शन मैं कर चुका था, इसलिए उनके सम्मुख जाकर मैं विस्मय और हर्ष से संकुचित हो जाता था। मेरे मन में तब ऐसा आता कि मैं एक मूढ़ दीन हीन भिखारी उनके श्री चरणों में ब्रैठने के सर्वथा अयोग्य हूँ। उस समय मैं माँ के चरणों के पास न बैठ दूर ही खड़ा रहता था। प्रायः रोज ही सुबह उनके चरणों के प्रथम दर्शन का सौभाग्य मुझे ही प्राप्त होता था, क्योंकि उतने सबेरे बहुत ही कम लोग आश्रम जाया करते थे। किसी दिन माँ को नींद-भरी आँखों में गद्‌गद भाव से बिस्तरे पर बैठा पाता, कभी उनके चिरहास्यमय मधुर नेत्रों तथा मुख से वात्सल्य और करुणा की धारा का निर्झर

देखता तो शरत् के आकाश की तरह निर्मल उदार पुनीत प्रसन्नता का प्रसार देखता । उनके भावों के परिवर्तन के साथ उनके रूप में भी अन्तर होता चलता । कभी वृद्धा की तरह भी लगतीं । कभी हँसी खेल के बीच में भी हठात् अचल, अटल गाम्भीर्यपूर्ण मूर्ति हो जातीं । ऐसी अवस्था में देखा जाता कि माँ का शरीर कुछ फूल गया है एवं रुद्राणी की तरह एक देवी मूर्ति का आविर्भाव हुआ है । उस समय का उनका अट्टहास, रक्तनेत्र तथा हाथ पैर की चलन–भंगी जिन्होंने देखी है वे भयभीत हो गये हैं । किन्तु थोड़ी देर बाद ही उनकी सहज स्वाभाविक शान्ति लौट आती है ।

किन्तु हर समय मैं, माँ का आकर्षण हृदय में दृढ़ भाव से अनुभव करता, उनके पास न जाने से कुछ भी अच्छा न लगता, कब थोड़ी देर के लिए ही माँ के चरणों में आश्रय पा सकूँगा सदैव एकमात्र यही ध्यान रहता । मुझे हर समय ऐसा लगता मानो, "आओ" "आओ" कहकर माँ मेरी अन्तरात्मा का आह्वान कर रही हैं, तथा हर समय अपलक नेत्रों से मेरी ओर ही देख रही हैं । अनेक बार क कल्पित दृढ़ता के साथ उनकी चिन्ता को अन्तर से हटाने की चेष्टा की । किन्तु वे मेरी विरुद्ध इच्छा–शक्ति का उपहास कर मनबुद्धि को अनायास ही अपने अधिकृत कर लेतीं । मैं हैरान हो कर चेतनाहीन–सा पड़ा रहता । मातृभाव की इस चरम क्षुधा को शान्त करने का कोई उपाय नहीं खोज पाता था । इस प्रकार मेरा दुर्बल शरीर क्रमशः क्षीण होने लगा ।

अन्त में १९२७ ई० ४ जनवरी को 'अब मुझसे नहीं रहा जाता' कहकर मैंने खाट पकड़ ली । रोग के प्रारम्भ से ही छाती में असहनीय यंत्रणा का अनुभव किया । किसी भी औषधि से

वह दर्द दूर नहीं हुआ। माँ एक दिन मुझे देखने आयीं, उन्होंने अपना हाथ मेरी छाती पर रखा, मानो सब ज्वाला शान्त हो गयी। पर क्रमशः रोग बढ़ता ही चला। डाक्टरों ने कहा कि यक्ष्मा रोग हो गया है। बाद में माँ एक दिन रात को आयीं और मेरे बिस्तरे के पास बैठ कर अपने आप ही क्या-क्या कहती रहीं। बहुत दिनों के बाद मैंने सुना था कि उन्होंने रोग की मूर्ति से कहा था "जो करना था वह तो कर दिया, अब बस यहीं ठहर जा।" इसके बाद से माँ ने मुझे दर्शन न दिया। सोचनीय तथा मृतवत् अवस्था होने पर भी कई महीनों तक माँ के श्री चरणों के दर्शनों का सौभाग्य नहीं हुआ।

ऐसा होना भी आवश्यक था। कारण उनकी विरह यंत्रणा की आकुलता मेरी रोग-यंत्रणा को बहुत कुछ शान्त रखती थी। मेरा लक्ष्य हमेशा माँ के श्री चरणों ही पर रहता था, वह सर्वमयी माँ मेरे अन्दर और बाहर सब जगह विराजित थीं। एक दिन शाहबाग में माँ बैठी थीं, उन्होंने देखा कि सबके मुँह में रक्त है। पिताजी यह सुनते ही रात को मुझे देखने आये, उस समय मुझे रक्त-वमन हो रहा था तथा मैं बिलकुल ही कातर पड़ा था। ऐसा अनेक बार ही हुआ है जब माँ शाहबाग में बैठी हुई मेरी खबर पाने से पहले मेरी उस समय की अवस्था के अनुरूप व्यवस्था बता दिया करती थीं।

एक दिन मेरी दशा बहुत खराब हो गयी। डाक्टरों ने जीवन की आशा बहुत कम बतायी। उस समय रात के दो बजे होंगे, बाहर खूब वृष्टि हो रही थी, चारों तरफ कुत्ते भौंक रहे थे। ऐसी विषम भयावह परिस्थिति से मेरे रोंगटे खड़े हो रहे थे। इसी

समय मैंने देखा कि माँ मेरे सिरहाने के दाहिनी ओर बैठीं हैं। मुझे विस्मित होता देख माँ ने मेरे सिर पर हाथ रखा। तब से यद्यपि मैं आठ दस महीने और बीमार रहा किन्तु हर समय मुझे ऐसा लगता कि माँ धीर स्थिर भाव से मेरे सिरहाने बैठी हैं तथा वे मुझे मरने न देंगी। जब लगातार घण्टों खाँसी उठती तथा मैं दर्द से छटपटाता तो माँ का नाम जप करते-करते सब कष्ट दूर हो जाता। इसी बीच माँ को एक ख्याल आया, उन्होंने मुझे लक्ष्य करके ब्रह्मचारी श्रीमान् योगेशचन्द्र को एक वर्ष के लिए गृहहीन अवस्था में भिक्षान्न से अपना जीवन निर्वाह करने के लिए पश्चिम की ओर भेज दिया।

कुछ महीने बाद मैं शाहबाग के पास एक सरकारी मकान में आ गया। माँ तब कुम्भ मेले में हरिद्वार गयी थीं। मेरी हालत फिर बिगड़ने पर माँ के पास ऋषिकेश एक तार भेजा गया। किन्तु माँ नहीं आयीं। पीछे सुना कि जब तार पाकर पिताजी व्यस्त हुए तो माँ उनसे बोलीं "मुझे तो दीख रहा है कि वह मेरी गोद में निश्चिन्त लेटा है।"

रोग के प्रायः पाँच महीने बाद मैंने अपनी शक्ति आजमाने के लिए दीवाल पकड़ कर एक दो मिनट चलने की चेष्टा की। पर शाम को ही मुँह से रक्त आने लगा। डाक्टर ने यह सुनकर एकदम बिस्तरे पर लेटे रहने को कहा तथा इस नियम की रक्षा के लिए घर पर सभी को ध्यान देने के लिए चेता दिया।

उक्त घटना के चार-पाँच दिन बाद माँ ढाका लौटीं। मुझे देखने को जब आयीं तो पूछा "कैसा है?" मैंने कहा "और कुछ तो विशेष कष्ट नहीं है किन्तु इतने दिनों से स्नान न करने के कारण

कुछ बेचैनी लगती है ।" तब वैशाख का महीना था । खूब गरमी थी । माँ कुछ देर बैठ कर चली गयीं । दूसरे दिन एक बजे लगभग आयीं । तब घर में सब ही सो रहे थे । मेरी ११, १२ साल की लड़की मेरी खाट के पास ही सो रही थी । माँ ने आकर कहा "तू स्नान करना चाहता था, यदि स्नान करना है तो वह जो पोखरा है उसमें जा स्नान कर आ ।"

यह तालाब हमारे घर से प्रायः साठ–अस्सी गज दूर था । माँ की बात सुनते ही श्रद्धा–विश्वास–वश मेरे शरीर में एक नयी शक्ति जग उठी । शरीर में हड्डियों के सिवा और तो कुछ था नहीं और साथ में डाक्टर का लेटे रहने का आदेश भी था । ऐसी अवस्था में मैं बिस्तरे पर से उठ हाथ में कपड़े ले नहाने चल दिया, पिताजी ने मुझे पकड़ लिया और साथ में मुझे तालाब तक ले गये । कमरे की दहलीज तीन–चार हाथ ऊँची थी । सीढ़ी से उतरा तथा सारे रास्ते चलकर गया । तालाब सर्वसाधारण का नहीं था, उसके एक किनारे यूनिवर्सिटी का मुस्लिम बोर्डिंग था । कुछ दिन पहले पी० डब्ल्यू० डी० ने नोटिस भी दी थी कि इस तालाब पर नहाना और कपड़ा धोना मना है । उस दिन वहाँ बोर्डिंग में कोई दिखाई न दिया तथा घर में सब सो रहे थे । तालाब में उतरकर खूब आनन्द से स्नान किया; घर लौट कर गीले कपड़े अरगनी पर सूखने को डाल कर बिस्तरे पर लेट गया । मेरे लेटते ही लड़की जग गयी, उसने देखा कि माँ उसके पास बैठी हैं । स्नान करने जाते समय रास्ते के मैदान से बहुत से चिरचेटे काँटे कपड़े में लग गये थे । कपड़े उठाते समय खगा ने (नौकर का नाम) ये सब देख मेरी स्त्री से कहा । कपड़े हाथ में ले उन्होंने माँ

से कहा कि डाक्टर का कहा—मान कर ये दोपहर को मैदान में घूमते हैं। माँ हँसने लगीं, कुछ भी न कहा। किस अज्ञात अकथनीय शक्ति से प्रेरित हो मैं तालाब में जाकर स्नान कर आया तथा दिन का समय होने पर भी कोई न देख सका, यह सोच कर मैं विस्मित हुआ। तीन चार महीने के बाद जब मैं आबहवा बदलने के लिए ढाका ज़ा रहा था तब यह बात सबसे पहले मैंने निरंजन को बतायी। बाद में जब फिर काम करने लगा तो डाक्टरों को भी यह बताया लेकिन उन लोगों को विश्वास नहीं हुआ। मेरी स्त्री को भी पहले विश्वास न हुआ किन्तु जब उसे कपड़ों में चिरचिटे लगना याद दिलाया तो उसे विश्वास हुआ।

बीमारी ही में एक दिन चावल खाने की प्रबल इच्छा हुई। डाक्टरों ने मना कर दिया। निरंजन ने जाकर माँ से कहा "माँ, ज्योतिषि को चावल खाने की इच्छा हो रही है, और डाक्टर मना कर रहे हैं, यदि उसका देहान्त हो जाय तो बड़ा दुःख रहेगा कि उसके मुँह में अन्न के दाने भी न दिये जा सके।" माँ ने हँस कर कहा "तुम्हारी जब ऐसी इच्छा है तो उसे भात दिया जायगा।" इसके दूसरे दिन ही पिताजी ने शाहबाग से आकर सबसे छिपा कर मुझे दाल चावल खिलाया।

एक दिन सुबह ब्रह्मचारी कमलाकान्त ने मुझे चम्पा के फूल लाकर दिये। तब माँ रोज ही एक बार मुझे देखने आया करती थीं। उस दिन सुबह आकर चली गयी थीं। चम्पा के फूलों को देख मुझे दुःख हुआ कि माँ के चरणों पर न चढ़ा सका। शाम को कुलदा दादा एक बड़ा सुन्दर गुलाब का फूल ले उपस्थित हुए। उस फूल को भी माँ को न दे सका, यह सोच कर बहुत ही दुःख

हुआ। टेबिल पर चम्पा के फूलों के पास गुलाब का फूल भी रख दिया। इतने सुन्दर फूल और माँ के श्री चरणों पर न चढ़ाये जा सकें, इस दुःख से मेरा मन व्यथित था। ठीक इसी समय सहसा माँ ने बाहर से आकर कमरे में व्यस्त भाव से प्रवेश किया और टेबिल के पास जा त्रिभंग मूर्ति से खड़ी हो गयीं, उन्मने भाव से तीन चार मिनट मेरी ओर देखती रहीं फिर चली गयीं। मुझे ऐसा लगा कि माँ ने फूलों को ग्रहण किया है। देखा कि गुलाब का फूल नहीं था। दूसरे दिन माँ के आने पर फूल की बात मैंने पूछी। माँ ने कहा, "क्या लिया, क्या नहीं लिया, पता नहीं, लेकिन कुछ लिया जरूर था। यहाँ से धानकोड़ा के जमींदार के यहाँ गयी थी, वहाँ एक स्त्री के हाथ में कुछ दिया, जब वहाँ कीर्तन खत्म हो गया तो लौटते समय एक डिप्टी के यहाँ गयीं, वहाँ एक रोगिणी थी, उसके बिस्तरे पर भी हाथ में से कुछ गिरा आयीं।" खोज करने पर पता चला कि पहले घर में गुलाब का फूल दिया था। दूसरे घर में चम्पा का फूल दिया गया, और वह रोगिणी अच्छी हो गयी।

इस प्रसंग में माँ ने कहा, "आकुलता का भाव ही पूजा-अर्चना का प्राण है। अन्तर में ही महाशक्ति का स्रोत है एवं सकल चेष्टाओं ही में सृष्टि, स्थिति और प्रलय के मूल विद्य-मान हैं।"

अन्य एक दिन की बात है। मेरी बीमारी के दिनों में पिताजी ने आदेश किया कि रोज शाहबाग से मेरे लिए अन्नप्रसाद आयेगा। वहाँ भोग लगते-लगते एक-दो बज जाते थे। फिर घर आने तक और भी देरी होती थी। रोज प्रसाद की इन्तजारी में

इतनी देर तक बैठना सबको बुरा लगता था। पूर्णिमा का भोग रात को लगता था। उस दिन प्रसाद के बारे में घर में बहुत कुछ आलोचना हुई। मुझे दुःख होने लगा कि इतने गोल-माल के भीतर प्रसाद लाने का कुछ प्रयोजन नहीं है। उस रात को दो बज गये और शाहबाग से प्रसाद नहीं आया। मेरे मन में ऐसा भाव उठा कि आज शाम को मैं जो प्रसाद के प्रयोजन के विरुद्ध सोच रहा था उसी कारण शायद प्रसाद बन्द हो गया। मैं खूब रोने लगा। देखा आधे घण्टे में ही प्रसाद आ गया। पीछे सुना कि ११ बजे जब प्रसाद भेजने के लिए माँ की अनुमति माँगी गयी तो उन्होंने मना कर दिया। अभी-अभी माँ ने बिस्तर से उठकर आदेश दिया "जल्दी जाकर ज्योतिष को प्रसाद दे आओ।" तब रात के तीन बजे थे। इस प्रसंग में माँ ने कहा था "मैं तो स्वेच्छा से कुछ नहीं करती, तुम लोग अपने ही भाव से हँसने और रोने की सृष्टि करते हो।"

मैं आबहवा बदलने के लिए विन्ध्याचल गया। कलकत्ते में माँ से भेंट होने पर उनसे विन्ध्याचल आने की प्रार्थना की थी, लेकिन उन्होंने इनकार कर दिया। मैंने विन्ध्याचल पहुँच कर एक रात रोते-रोते सुबह कर दिया। एक दिन बाद ही माँ और पिताजी वहाँ आ पहुँचे।

इस उपलक्ष्य में माँ ने कहा, "मैं" को हटाकर ही "तुम" को पाया जाता है। साधन भजन का लक्ष्य ही है अहंकार चूर करना।"

विन्ध्याचल से मैं चुनार गया, माँ भी वहाँ आयीं। मुझसे बोलीं "तू घूमने तो जा।" मैंने कहा, "शरीर में तो बल है नहीं

कैसे चलूँगा।" माँ अगले दिन सुबह मुझे साथ लेकर बाहर चलीं। समतल तथा पहाड़ी भूमि में पाँच छ मील घूम कर ११ बजे के समय अपने स्थान को लौटे। पहाड़ से उतरते समय मेरे पैर बढ़ने को इनकार कर रहे थे। माँ पीछे मुड़ कर बोलीं, "और ज्यादा दूर नहीं है।" तब वहाँ इक्के का अड्डा न होने पर भी दस मिनट में इक्का मिल गया। अन्यथा एक मील और चलकर गाड़ी मिलती। मुझे आशंका हुई कि इतनी दूर चलने से कहीं फिर बीमारी न बढ़े। किन्तु कुछ नहीं हुआ।

इस प्रसङ्ग में माँ ने कहा "कर्म और धर्म दोनों क्षेत्रों में धैर्य ही प्रधान अवलम्बन है।"

चुनार में अपने स्थान से कुछ दूर एक पेड़ के नीचे रात के नौ बजे पिताजी, मैं और माँ बैठे हुए थे। माँ बोलीं—"मैं चुनार फोर्ट के कुएँ के पानी से स्नान करूँगी", फिर बच्चों की तरह जिद करने लगीं। मैं बोला, "घर के नौकर को बुलाऊँ।" माँ बोलीं "ना ! यह नहीं होगा।" मैं महाचिन्ता में पड़ गया। कारण इस स्थान पर सन्ध्या के पहिले ही सब पानी खींच ले जाते हैं। मुझे दुःख होने लगा कि माँ का यह अनुरोध शायद पूरा न कर सकूँगा। उनके श्रीचरणों में प्रार्थना करने लगा। इतने में क्या देखा कि एक आदमी हाथ में लालटेन, रस्सी, बाल्टी लिये कुएँ का पानी लाने आ रहा है। उसकी खुशामद कर पानी मँगवाया और माँ को स्नान करवाया।

इस प्रसंग में माँ ने कहा "कुछ चाहने से ही मिल सकता है, लेकिन वह चाहना मन से मुँह से सब भावों को एक करके चाहना होना चाहिये।

मैं पीड़ित अवस्था में गिरिड में था। एक दिन माँ को देखने के लिए प्राण बड़े व्याकुल हुए। तभी एक दिन देखता हूँ कि माँ सदलबल आ उपस्थित हुई।

इस प्रकार निरन्तर बहती हुई अहैतुकी कृपाधारा ने कितने सन्तप्त प्राणों को शान्ति दी उसकी सीमा नहीं है।

मैं कलकत्ता आया। डाक्टरों ने परीक्षा कर कहा कि नौकरी की कोई जरूरत नहीं है। किसी अच्छी जगह आराम से रहो यदि बचना चाहते हो। उस समय खाँसी के साथ खून आता था।

माँ ने आदेश किया "तू फिर से आकर अपना काम देख।" ढाका आकर पहले दिन जब मैं आफिस गया तो माँ और पिताजी मुझे साथ ले जा कर कुर्सी पर बैठा आये।

तब फिनले साहब बंगाल के कृषि विभाग के डाइरेक्टर थे एवं मेरे अफसर भी। वे मुझसे स्नेह करते थे तथा खूब मानते भी थे। आफिस के कामकाज के विषय में उन्होंने कहा "तुम जितना कर सको उतना करना, बाकी मेरे पास भेज देना।" एक बार उन्होंने मुझसे पूछा "अच्छा बताओ कि इतने कठिन रोग से तुम किस प्रकार मुक्त हुए।" मैंने कहा, "रमना आश्रम में जो माताजी हैं उनकी कृपा से। उन्होंने कोई दवा, ताबीज या कवच मुझे नहीं दिया। यद्यपि डाक्टरों की दवा भी हो रही थी, किन्तु बीमारी के शुरू से आखिर तक उनकी कृपादृष्टि ही मेरा एकमात्र सहारा था।" साहब ने मुझसे कहा, "अविश्वास करने की जरूरत नहीं है, हम लोगों के यहाँ भी इस प्रकार की कृपा के विषय में सुना जाता है।"

एक सन्ध्या को मेरे पड़ोसी अस्सी बरस के वृद्ध श्यामाचरण मुखोपाध्याय हमारे घर आये। माँ का प्रसङ्ग उठने पर मैंने उनसे कहा, "माँ की कृपा ही से आज तक मैं जीवित हूँ।" वे बोल उठे, "किसी की कृपा से किसी की उमर बढ़ जाती है?" आलोचना करते करते ही वे सहसा चुप हो गये तथा थोड़ी देर बाद ही चले गये। सुबह फिर आकर मुझसे बोले "कल हठात् मैं ऐसे क्यों चला गया। जानते हो? जब हम लोगों का वाद-विवाद हो रहा था, तब मैंने तुम्हारी कुर्सी के पीछे दीवाल पर सूर्य की तीव्र ज्योति की तरह एक गोलाकार प्रकाशपुंज देखा। तब बाहर अँधेरा था, कमरे में भी प्रकाश न था, चारों तरफ देखने पर भी उस प्रकाश का कोई कारण नहीं मिला। तब मैंने सोचा कि तुमको बताने से पहले मैं स्वयम् एक बार चिन्ता करके देखूँगा। कल रात को सोचते-सोचते इस निर्णय पर पहुँचा कि महापुरुषों की कृपा से सब सम्भव है। यथार्थ में तुम पर माँ की असीम कृपा है। एवं वे तुम्हारी हर समय रक्षा करती हैं।"

माँ के साथ प्रथम साक्षात् के तीन चार महीने बाद निरंजन ने एक दिन शाहबाग में माँ से कहा, "माँ! अनेक समय यह इच्छा होती है कि आपका आश्रम बन जाने पर मैं और ज्योतिष मर कर उस आश्रम में ब्रह्मचारी बन कर रहें।" माँ मेरी ओर देख कर बोलीं "तू चुप क्यों बैठा है, क्यों इस शरीर से ऐसा नहीं कह सकता?" तीन चार साल बाद बीमारी से मुक्त हो काम-काज शुरू कर देने पर एक दिन उसी बात की याद दिलाकर माँ बोलीं "देखा, कैसे तेरा पुनर्जन्म हुआ।" इसके बाद माँ के गले में जो एक सोने का हार जनेऊ की तरह था उसे हाथ में लेकर बोलीं

"इधर तो आ, मैं तुझे यह जनेऊ पहनाये देती हूँ, आज से तू ब्रह्मचारी हुआ।"

आश्रम में जिस छोटी सी छोपड़ी में माँ रहती थीं उसकी जमीन अपनी बुद्धि से मैंने ठीक कर दी थी। कमरे की लम्बाई आठ हाथ तथा चौड़ाई साढ़े पाँच हाथ थी, चारों तरफ बरामदे थे, माँ उसके दोनों तरफ सोती थीं। माँ ने पहले बताया था कि अतीतकाल में जो संन्यासी यहाँ थे उनमें से मैं भी एक था। बहुत दिन बाद कथा-प्रसङ्ग में माँ ने अपने सोने की जगह को लक्ष्य कर कहा "इस देह के आने के पहले ही तूने अपने भाव और कर्मों की पूर्ति के लिए स्थान अपने लिए ठीक किया था।" मेरा कितना बड़ा सौभाग्य कि माँ ने स्थूल शरीर से मेरी जन्मान्तर की अध्यात्म कर्म-भूमि पर आसन ग्रहण किया है। मेरी तपस्या भी यही थी। कारण जिस दिन उनके श्रीचरणों का दर्शन किया उसी दिन माँ मुझे सर्वदेवमयी लगी थीं।

१९२९ ई० के अन्तिम भाग से प्रायः तीन वर्ष तक मातृ-दर्शन की आकांक्षा लिये हुए मैं खूब सबेरे रमना आश्रम जाता था। इसके लिए रात को प्रायः दो बजे ही उठ कर नित्य कर्म समाप्त कर साढ़े चार बजे चल देता। किसी दिन घड़ी गलत देख कर ही चल पड़ता। और रास्ते में किसी के घर का घण्टा सुन कर पता लगता कि अभी तो काफी रात है। तब या तो रमना की परिक्रमा करता, नहीं तो रमना काली-बाड़ी के दरवाजे पर बैठ सुबह होने की प्रतीक्षा करता। प्रायः पाँच बजे आश्रम जाकर माँ के साथ इधर-उधर मैदान में घूम कर साढ़े दस या ग्यारह बजे घर लौटता। किसी किसी दिन बारह एक भी बज जाता। तब माँ

के सामने संकोच-वश नहीं बैठता, शरीर किसी अज्ञात आनन्द से भरकर खड़ा ही रहना चाहता, कोई यदि बैठने को कहता तो संकोच लगता। माँ किसी किसी दिन ही बात-चीत करतीं, अधिकांश समय वह चुप ही रहतीं। मैं भी पीछे-पीछे चुपचाप चलता। एक दिन एक वृद्ध वकील (स्व० अश्विनीकुमार गुह ठाकुरता) सुबह मैदान में घूमते हुए माँ से बोले, "मैं तुम्हें देखने नहीं आता, बल्कि तुम्हारे इस बछड़े को देखने आता हूँ; जो सरदी, गरमी, बरसात में भी रोज इतनी दूर आता है, तुम्हारे संग संग चलता है, उसे देख मुझे बड़ा आनन्द होता है।" मैंने उनसे कहा, "ऐसा आशीर्वाद दीजिए तो मेरा शेष जीवन भी इसी तरह कट जाय।" वृद्ध ने मुझे छाती से लगा लिया और गद्‌गद् कण्ठ कहा "तुम धन्य हो।"

अनेक बार देखा कि रात के अन्तिम पहर में खूब वृष्टि हो रही है। मैं माँ का नाम स्मरण कर चल दिया और आगे कुछ देर के लिए मेह बन्द हो गया। बरसात क्या भीषण सरदी में भी माँ के दर्शनों के नित्य कर्म में प्रायः तीन साल तक कोई बाधा नहीं हुई।

उन दिनों एक महीने तक ढाका में हिन्दू मुसलमानों का झगड़ा चला था। इस झगड़े के होने से पहले एक दिन माँ सहसा बोल उठीं, "भयानक !" ऐसा बोलने का कारण पूछने पर माँ बोलीं, "मुझे ऐसा दीख रहा है कि शहर में घर-घर हाहाकार मच रहा है।" बाद में जब झगड़ा बहुत बढ़ गया, इतनी विभीषिका में भी मेरा आश्रम जाना बन्द नहीं हुआ। मेरे पड़ोसी श्रीयुत भवानी प्रसाद नियोगी मुझसे छोटे भाई की तरह स्नेह करते थे। वे प्रायः

मुझसे कहते, "तुम जब तक नहीं लौट आते तब तक मुझे आशंका रहती है। शहर में इतनी मारकाट हो रही है, ऐसे समय इतने सुबह बाहर जाना क्या ठीक है?" मैं सोचता जब माँ ने ही इस विषय में मुझे निषेध नहीं किया तब निश्चय ही मेरे लिए कुछ भय नहीं है। मैं अपने क्रम से जाता रहा।

एक दिन आश्रम जा रहा था। रास्ते में बिजली बत्तियाँ जल रही थीं। रास्ता निर्जन था। ढाका डाक बँगलो से १०० गज आगे चल कर मैंने देखा कि मेहगनी पेड़ के पीछे से एक बलिष्ठ आदमी ने जिसका सब शरीर कपड़े से ढँका था मेरा पीछा किया। उससे पूछने पर कि 'वह कहाँ जायगा', "मैं भी आपके साथ जाऊँगा।" मैंने कहा, "मैं तो रमना आश्रम जा रहा हूँ। वह बोला, "मैं भी जाऊँगा।" तब मुझे डर लगा। पीछे मुड़ कर देखा कि वह मेरे बहुत निकट आ गया था। इसी समय मैं जोर से चिल्ला उठा, "नहीं, तुम मेरे साथ नहीं जा सकते।" ऐसा कह मैं जल्दी जल्दी चलने लगा। मैंने इधर-उधर नहीं देखा, बहुत दूर जा मुड़कर देखा कि वह आदमी कठपुतली की तरह उसी जगह खड़ा है। रमना आश्रम जाकर देखा तो स्नेहमयी जननी फाटक पर खड़ी मेरी ओर देख रही हैं। मैंने श्रीचरणों में प्रणाम किया और घटना बतायी। वे चुप रहीं। कुछ दिन बात सुना कि उस जगह एक खून हुआ था।

●

अभियान

जीवन संग्राम में पहला प्रयोजन लक्ष्य, दूसरा प्रयोजन दृढ़ संकल्प एवं तीसरा एकान्त आत्मनियोग है। इन तीनों के संयोग से यदि कोई भी काम किया जाय तो चाहे एकदम फल न दिखे फिर भी शुभ कर्म के संस्कार बीज रूप में संचित रहते हैं। सुयोग पाकर अपने आप ही वे विकसित हो जाते हैं।

बीमारी के बाद फिर तीन साल तक मैंने नौकरी की। एक दिन आश्रम में माँ एक फूल हाथ में लिये उनकी पंखुड़ियाँ तोड़ती हुई मुझसे बोलीं, "तेरे अनेक भाव तो झड़ गये और अनेक अभी बाकी हैं। सब झड़ जाने पर इस फूल के डंठल की तरह केवल सूक्ष्म शक्ति रूप में मैं तेरे भीतर रहूँगी, समझा !" यह कह कर हँसने लगीं। मैं बोला, "माँ ! क्या उपाय करने से वह अवस्था आयेगी" ? माँ बोलीं, "रोज इसी बात को एक बार याद करना, और कुछ नहीं करना होगा।" सचमुच ही चिन्ता नित्य कर्म का ही अंग हो गयी, मेरे चित्त की चंचलता जाती रही और एकाग्रता आती गयी। जब मन इधर-उधर भटकता तो लक्ष्य पर केन्द्रित करने के लिए मन में प्रबल आग्रह होता। इससे मुझे यह विश्वास हो गया कि जप ध्यान और साधन भजन करके मनुष्य जो लाभ करता है वह महात्माओं की सहज वाणी के बल से लाभ किया जा सकता है। छः महीने बाद घूमते-घूमते माँ ने एक दिन कहा, "देख, तेरा कर्मजीवन शेष होने जा रहा है।" मैंने सुना, किन्तु

मन ने उतनी गम्भीरता से नहीं सुना। तब मुझसे श्रीमान् भगवान्चन्द्र ब्रह्मचारी भी प्रायः कहते, "तुम्हें तो भैया लेने के लिए हिमालय से आदमी आ रहा है, प्रस्तुत रहना।" उनका बालसुलभ स्वभाव था, मैं सोचता, शायद वे हँसी कर रहे हैं।

कई महीनों के बाद मैंने चार महीनों की छुट्टी ली। सोचा था किसी पहाड़ पर हवा बदलने के लिए जाऊँगा, इसी बीच १९ वैशाख १३३९ वंगाब्द (२ जून १९३२ ई०) बृहस्पतिवार को साढ़े दस बजे माँ ने श्रीमान् योगेशचन्द्र ब्रह्मचारी को भेज मुझे घर से बुलाया और पूछा, "मेरे साथ चल सकता है ?" मैंने जिज्ञासा की, "कहाँ जाना होगा ?" माँ ने कहा, "जहाँ भी जाऊँ।" मैं चुप रहा। कुछ देर बाद फिर बोलीं, "चुप क्यों हो गया ?" घर पर किसी से कुछ कह कर नहीं आया था। संसारी की तरह बोल पड़ा, "घर से रुपया पैसा तो लाना होगा।" माँ बोलीं "यहीं से जितना संग्रह कर सके कर ले।" मुख से तो अच्छा कह दिया किन्तु मन में मानो पुत्र–परिवार पूछ रहे हैं, "कहाँ जा रहे हो ?"

खैर जो भी हो एक कम्बल, एक रजाई, एक दरी और एक धोती ले मैं, माँ व पिताजी ढाका स्टेशन के लिए रवाना हुए। स्टेशन पर पहुँच माँ ने कहा, यह गाड़ी जहाँ तक जा रही है वहाँ तक के टिकट ले ले।" जगन्नाथगंज तक के टिकट ले लिये गये। दूसरे दिन वहाँ पहुँचने पर माँ बोलीं—"उस पार चल।" उस पार जाकर कटिहार के दो टिकट ले लिये गये। पास में रुपया कम था, अकस्मात् कटिहार स्टेशन पर एक पुराने मित्र से भेंट हो गयी, उन्होंने १००), कुछ फल तथा कुछ खाना दिया। वहाँ से लखनऊ के टिकट लिये। रास्ते में गोरखपुर उतरे। वहाँ

पर गोरखनाथ के मन्दिर में दर्शन कर लखनऊ पहुँचे । अगली गाड़ी देहरादून एक्सप्रेस थी । माँ बोलीं, "जहाँ तक गाड़ी जाय वहाँ के टिकट ले ।" दूसरे दिन देहरादून में धर्मशाला में आकर उतरे । नयी जगह, नये आदमी सब कुछ नया । माँ बोलीं, "मुझे तो सब पुराना लग रहा है ।" कहाँ जायेंगे कुछ निश्चय नहीं । मैं और पिताजी दोपहर को घूमते-घूमते काली-बाड़ी का नाम सुनकर उस जगह गये, वहाँ जाकर पता लगा कि तीन-चार मील दूर रायपुर गाँव में एक शिवालय है, स्थान निर्जनप्राय है । मन्दिर एकान्त-वास के लिए अच्छा है । घटना-चक्रानुसार एक रायपुर के पण्डित ठीक उसी समय उपस्थित हुए । उनके साथ बात-चीत कर अगले दिन हम रायपुर गये । पिताजी को वह स्थान खूब पसन्द आया । माताजी का मतामत पूछने पर उन्होंने कहा, "तुम लोग देख-भाल लो, मुझे तो सभी अच्छा है ।" ८ जून १९३२ ई० बुधवार सुबह १० बजे से उस मन्दिर में माँ और पिताजी रहने लगे ।

इसके बाद की घटनाएँ श्री श्री माँ की इच्छा होने पर बाद में प्रकाशित की जायँगी ।

श्री श्री माँ

श्री श्री माँ के स्वरूप की धारणा करना हमारी बुद्धि की पहुँच के बाहर है। यद्यपि माँ हर समय कहती रहती हैं, "मैं तो तुम लोगों ही की पगली लड़की हूँ।" फिर भी इस पगली लड़की के चलने-फिरने की ओट में, उनके क्रीड़ा-कौतुक के पीछे भागवती शक्ति का मूर्तिमय प्रकाश रहता है।

पश्चिमी मनीषी एमरसन ने कहा है, "संसार में रह कर गृह धर्म अकुण्ठित रूप से निर्वाह करना अथवा निर्ज़न गिरि कन्दरा में साधन करना सहज है। किन्तु यथार्थ में प्रकृत सत्य और महत्त्व में वे प्रतिष्ठित हैं जो जनता के जीवन के घात-प्रतिघातों में भी निराशा की स्वतन्त्रता और पूर्ण माधुर्य के साथ रह सकते हैं।"

श्री श्री माँ लोक कोलाहल के अशान्त वातावरण में भी रात-दिन रहती हुई, अपने अक्षय आनन्द का भण्डार सबके लिए उन्मुक्त रखती हैं, उनकी निर्मल शान्त दृष्टि, पवित्र हास्युक्त अपूर्व जीवन की स्वच्छन्द गति, प्राणिमात्र की अनेक वासनाओं की पूर्ति करती है। इस कारण उनको विश्वजननी का मूर्तिमय रूप कहना अनुचित न होगा।

माँ को कोई 'साक्षात् भगवती का अवतार' कोई 'जीवन्मुक्ता साधिका माँ' कहता है। हम लोगों को ऐसा लगता है "जिसकी दृष्टि में वे जो हैं, वही हैं।" प्रथम दर्शन में ही उनका

वात्सल्यपूर्ण मधुर भाव स्पन्दन धर्मविमुख प्राणी के हृदय में भी भावान्तर उपस्थित कर देता है। उनके सामीप्य से शुष्क प्राण में भी भगवद्-भाव की स्फूर्ति होती है और मनुष्य का हृदय एक विराट सत्ता के स्पन्दन, अनन्त समुद्र जलोच्छ्वास की तरह आच्छन्न हो जाता है।

माँ की दीक्षा व गुरुलाभ के विषय में पूछने पर माँ ने कहा था—"बचपन में माता-पिता, गार्हस्थ जीवन में पति एवं सदैव समस्त संसार मेरा गुरु है, लेकिन यह ध्यान रखो कि गुरु कहने से एकमात्र वही हैं, वही।"

लौकिक दृष्टि से माँ जिस प्रकार आदर्श कन्या, आदर्श स्त्री तथा आदर्श माँ के रूप में सम्मुख आती हैं, आध्यात्मिक दृष्टि से भी उनकी वाणी में राजयोग की विविध प्रक्रियायें, साधन के विचित्र मार्ग, द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत आदि सब स्फुटित होते हैं। कीर्तन में जो उनका भाव देखा गया है उससे उनको परम वैष्णवी कहा जा सकता है; शिव, दुर्गा, काली आदि देवी-देवताओं की पूजा में, तांत्रिक अनुष्ठान में अथवा वैदिक यज्ञादि कर्मनिष्ठा में जो उनकी सहज कुशलता दिखाई देती है, उससे उनको सर्वदेव-देवीमयी परम देवता कहने में अत्युक्ति न होगी।

साधन आदि किये बिना ही जीवन के आरम्भ ही से नित्यकर्म की तरह जो अलौकिक विभूतियाँ उनके व्यवहार में स्वतः दिखाई पड़ीं, उनके आधार पर माँ को परमयोगी कहा जा सकता है। वैदिक भाषा में सूक्त और स्तव जो उनकी वाणी द्वारा मूर्तिमान हो उठे थे उनको पढ़ने पर उन्हें मंत्र-द्रष्टा ऋषि कहने में कोई दुविधा न होगी।

ज्ञानमार्ग, भक्तिपथ, कर्मयोग, समाधियोग आदि में उनके स्वतः प्रमाणित तथा अनुभवसिद्ध सिद्धान्तों ने अनेक प्राचीन और प्रवीण प्राच्य और प्रतीच्य दार्शनिकों को आश्चर्यान्वित किया है। ज्ञान, योग, भक्ति आदि विशेष-विशेष खण्ड भावों के साधकों में तथा माँ में यही पार्थक्य है कि माँ में ये सब खण्डभाव सुन्दर समन्वय के साथ प्रकाशित हुए हैं। इन्हीं के द्वारा जीवन मात्र का कल्याण हो रहा है।

उनकी सुन्दर मधुर मूर्ति, उनका धैर्य, क्षमा, सरलता, तथा चिरआनन्दमय क्रीड़ा-कौतुक, उनकी मङ्गलमयी दृष्टि, समस्त प्राणीमात्र पर करुण कोमल स्वभाव, उनका द्वन्द्व-रहित, इस युग के लिए अभूतपूर्व तथा अनुपम नित्यमुक्त स्वभाव है। उनको साधिका नहीं कहा जा सकता, कारण कि जिन्होंने उन्हें बचपन से अब तक देखा है, वे सभी कहते हैं कि माँ के कर्म और भाव में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है और उनकी साधन-प्रचेष्टा अथवा तपस्या किसी ने भी कभी नहीं देखी है।

सब अवस्थाओं में सदैव उनके शरीर के जो लौकिक और अलौकिक विभूतियों के दर्शन हुए हैं, वह सब भक्तों के कल्याण के लिए स्वयम् प्रकाशित हुए हैं, उनकी इच्छा अथवा अनिच्छा से नहीं हुए हैं। जलती हुई होमाग्नि में हविधारा दी जाती है तो अग्नि अपने स्वभाव के अनुसार प्रदीप्त हो उठती है, हवि की गन्ध से दिशाएँ पवित्र व आमोदित हो जाती हैं, और थोड़ी देर बाद आहुति का कोई भी चिह्न यज्ञाग्नि में नहीं दीखता, जब कि अग्नि अपनी दीप्ति से साथ जलती ही रहती है। उसी प्रकार श्री माँ को भक्तों द्वारा प्रेमअर्घ्य तथा श्रद्धांजलि अर्पित करने पर माँ का वात्सल्य,

स्नेहातिरेक, उनकी वाणी दृष्टि तथा मुखश्री पर प्रतिभासित हो उठता है एवं दूसरे क्षण ही वह सब उनकी सहज शान्त सौम्य माधुरी मूर्ति में सन्निहित हो जाता है।

उनमें इच्छा अनिच्छा का द्वन्द्व नहीं है। प्रवृत्ति निवृत्ति का द्वन्द्व भी उनकी इच्छाशक्ति से कभी स्फुरित होता नहीं देखा गया है। विश्व के कल्याण के लिए जो धर्म एवं कर्म हैं उनका मूलाधार सनातन सत्य, जो अनादिकाल से मानव चित्त में स्वयम् प्रकाशित होता आ रहा है, उसी सत्य धर्म की ज्योति माँ के चारों ओर है, उसका आभास व संकेत माँ के सब लौकिक अलौकिक कार्यों द्वारा ही मिल जाता है। माँ के जीवन से यह भली-भाँति दर्शित होता है कि स्वयम् परिपूर्ण रह कर किस प्रकार मनुष्य के सांसारिक व्यवहारों की रक्षा करते हुए अध्यात्म राज्य में स्वाधीन रहा जा सकता है।

वर्तमान युग की बढ़ती हुई साधु-संन्यासियों की संख्या देखते हुए यह विचार आना स्वाभाविक है कि क्या उन लोगों द्वारा मानव समाज का कुछ कल्याण हो रहा है? गृहधर्म और समाज-धर्म से बाहर जाकर गृह-धर्म और समाज-धर्म का साधनपथ सुगम बनाना कुछ सहज नहीं है। यह ठीक है कि निर्जन गिरिकन्दरा में अनेक वर्षों तक तपस्या कर किसी किसी ने आध्यात्मिक उन्नति-लाभ किया है किन्तु उन लोगों की इस उच्चतम अवस्था द्वारा जनसाधारण के जीवन-क्रम में कोई उन्नति नहीं होती। आश्रमों का निर्माण होता है, उनकी चूड़ा आकाशभेदी बनायी जाती है, पूजा आरती से आश्रम का वातावरण मुखरित किया जाता है, अन्नशालाओं में कंगालों को अन्न बाँटा जाता है,

किन्तु इतने सब अर्थव्यय और परिश्रम से बने आश्रम की भित्ति अपनी प्रेरणा और प्रभाव से समाज में ज्ञान, प्रेम और भक्ति का संचार नहीं कर पाती, वरन् देखा जाता है कि समाज में दिन पर दिन हिंसा, द्वेष तथा कलह की वृद्धि हो रही है, ऐसे समाज में साधन-भजन अबाध गति से नहीं हो सकता। जिस साधन के बल से शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की शक्ति प्राप्त हो, जिसके प्रभाव से जीव में ईश्वर-भाव स्फुरित हो, स्वयं अपने को समर्थ बना दूसरे को भी समर्थ बना सके, सारे व्यक्तिगत स्वार्थ निर्मल होकर दूसरे के काम में लगाये जा सकें, ऐसी साधना का क्षेत्र आज दिन पर दिन संकुचित होता जा रहा है।

श्री श्री माँ का जीवन प्राणिमात्र के मंगल और कल्याण के लिए है, वह अपने समस्त जीवन का भार जनसाधारण को देकर स्वयम् जगत् के कल्याण-साधन में लीन रहती हैं। व्यावहारिक दृष्टि से ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो उनकी निज की हो, सब जगह उनकी जगह, सब जीव उनकी संतान और परिजन हैं। उनकी दृष्टि में सब धर्म केवल उन्हीं की खोज में लगे हैं। वे कहती हैं, "मुझे तो यह संसार एक बाग सा लगता है, तुम सब इस बाग के फूल की तरह खिल रहे हो। मैं इस एक ही बाग में इधर-उधर घूमा करती हूँ।"

अन्य एक समय उन्होंने कहा."मेरा निज का कुछ कहने या करने का प्रयोजन नहीं है, पहले भी नहीं था, अब भी नहीं है और होगा भी नहीं। जो कुछ प्रकाश पाया, पा रहा है तथा पायेगा, सब तुम्हारे कल्याण ही के लिए हैं, इस शरीर की यदि कुछ निजस्व चीज है तो समस्त संसार ही निजस्व है।"

सृष्टिलीला की जो अपार विभूति मातृभाव है जिसकी समस्त विश्व में दीप्ति है, उसी अखण्ड मातृभाव का सर्वतोमुखी प्रकाश श्री श्री माँ की सब बातों, कार्यों तथा लौकिक व्यवहारों में मिलता है। भक्तों के निकट छोटी-लड़की का-सा अनुरोध, शरणागत आर्त के प्रति मातृरूप में अभयदान, जिज्ञासु के लिए वाणी रूप में अन्तर्जगत् के सत्य का प्रकाश, सभी कुछ इस महाशक्ति का लीला विलास है।

जगत् के सब धर्मों, सब वर्णों और सब जातियों के प्रति, सब आश्रमों, सब विषयों, सब प्रकार की शिक्षाओं में समान भाव से श्रद्धा और अनुराग प्रदर्शित करती हुई माँ "सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस महावाक्य को अपने जीवन में ही प्रतिपादित करती हैं। वह कहती हैं "सब धर्मों की एक ही धारा और सब धाराएँ भी एक, हम सब भी एक हैं।" किसी के कभी पूछने पर "आप कौन जातीय हैं ? आपका घर कहाँ है ?" माँ हँसते हुए जवाब देती हैं, 'व्यावहारिक हिसाब से तो यह शरीर पूर्वी बंगाल का तथा जाति से ब्राह्मण है किन्तु इन सब कृत्रिम उपाधियों से अलग करने पर यह शरीर तुम लोगों के परिवार का ही है।"

कभी-कभी माँ को कहते सुना गया है "इस शरीर पर तुम लोग विश्वास रखो। तुम लोगों का अखण्ड विश्वास ही तुम्हारी आँखें खोल देगा।" कभी यों भी कहती हैं "मैं तो कुछ जानती नहीं, तुम लोग जो सुनाओ या सुनना चाहो वही मैं बोलती हूँ।" फिर कभी यों कहती हैं—"यह शरीर तो एक गुड़िया है, तुम जैसा खेलाना चाहते हो वैसे ही खेलते रहते हो।

उनकी इन सब वाणियों से यही विश्वास होता है कि माँ का

शरीर जगत् की मूलाधार प्रच्छन्न मांतृशक्ति का मूर्तिमान रूप है। सृष्टिमय परमात्मा की शक्ति से उनकी सब चेष्टाओं का विकास तथा उन्हीं में लोप होता है। द्वैत-बोध का उनमें लोप हो गया है। वह कभी-कभी कहती हैं "एक मात्र तुम्हीं सब हो तथा एकमात्र मैं ही सब हूँ।"

अन्य एक दिन कहा था, "मैं भी तुम्हीं, एकमात्र वे हैं तभी तो मैं और तुम हैं।" यदि केवल एक बार विश्वास और श्रद्धा से कोई यह बोल सके कि "माँ तुम आओ, तुम्हारे बिना मेरा काम नहीं चल सकता तो माँ सच में आ उसे दर्शन दें तथा अपनी गोदी में ले लें। दुःख की मार थोड़ी देर की है, उन्हें रहस्यमय आश्रय न समझो। याद रखो वह हर समय तुम्हारे पास ही प्राण-शक्ति की तरह विराजित हैं। फूल का जिस प्रकार डण्ठल होता है जीवों का भी उसी रूप में आश्रय हैं। ऐसा भाव लाने से तुम्हें कुछ करना न होगा, वह तुम्हारे सब भार को हल्का कर देंगी।"

●

श्री श्री पिताजी

पिताजी ने नाना प्रकार से मुझे स्नेह देकर एवं मुझे अपने धर्मपुत्र के रूप में ग्रहण कर मेरे जीवन को धन्य किया है । प्रथम दर्शन से ही मैंने पिताजी का स्नेह पाया । यही स्नेह मुझे जीवन के प्रत्येक पद पर संरक्षित करता हुआ महागुरु के रूप में मेरा पथ-निर्देशक हुआ । पहल मैं सोचता था कि बिना माँ के पाये पिता को नहीं पा सकता किन्तु आज बाध्य होकर मुझे यह कहना पड़ रहा है कि पिताजी को पाकर उनकी दया के द्वारा ही माँ को पाया । लौकिक हिसाब से माँ का दर्शन लाभ उनकी सर्वहितकारी महानता तथा करुणा के बिना किसी के भी भाग्य में नहीं प्राप्त हो सकता । ऐसी अनेक संन्यासिनी माताओं की बात भी सुनी गयी है जिन्होंने पति के विरुद्ध होने के कारण घर की सीमा में ही रह कर धर्मजीवन बिताया है ।

हम लोग सांसारिक जीव हैं, दुःख दैन्य दुर्बलता के लिये जीवन पथ पर चलते रहते हैं, पिताजी ने हम लोगों के मन की अनेक मलिनताएँ हमें दिखाकर हमारे मन को निर्मल किया है । मेरे दारुण रोग में उनकी शुभचिन्ता तथा आशीर्वाद मेरे पुनर्जीवन दान का प्रधान उपकरण हुए । एक दिन सिद्धेश्वरी आश्रम जाने पर मेरी पुरानी बीमारी फिर से न उभड़ जाये, इस डर से हठात् पिताजी भावावेश में मुझे खींच कर माँ की गोद में बिठाते हुए बोले, "तुम्हारा लड़का तुम्हें सौंप रहा हूँ, अब उसकी रक्षा का भार तुम पर है ।"

श्री श्री माँ से सुना है कि अनेक वर्ष पहले पिताजी की दोनों भौंहो के बीच एक ज्योति किरण का प्रकाश माँ ने देखा था । जप,

तप, यज्ञ और पूजा में पिताजी की एकाग्रता और एकनिष्ठता असाधारण थी।

पिताजी के भीतर कौन सी अद्‌भुत अन्तर्निहित शक्ति चुप-चाप काम करती है उसे समझने की शक्ति हममें नहीं है। वे वास्तव में ही आशुतोष भोलानाथ हैं, अपना आनन्द दूसरों को देकर उनके आनन्द में ही भरपूर रहते हैं। जो उनके संसर्ग में आये हैं वे जानते हैं कि उनके चरित्र में कैसी एक अपूर्व मधुरता है। उनके आशीर्वाद के लिए सभी लालायित रहते हैं। बच्चों के साथ उनका हास-परिहास छेड़छाड़ दर्शनीय है। उनके बच्चों जैसे सरल स्वभाव को देख श्री श्री माँ भी उनका "गोपाल" कह कर परिचय देती हैं। पिताजी का हृदय इतना विशाल तथा उदार है कि वे माँकी शक्ति रूप में पूजा करने में तनिक भी संकुचित नहीं होते। पिताजी को बहुत लोग क्रोधी समझते हैं। किन्तु जो उनके संसर्ग में आकर तनिक भी घनिष्ठ हुए हैं वे जानते हैं कि जिस प्रकार वाड़वाग्नि की शिखा के मूल में शीतल जल का प्रस्रवण रहता है, ठीक उसी प्रकार उनके क्रोध के ओट में स्नेह और करुणा की धारा बहती है। दूसरों की मंगल-कामना, हितसाधना ही उनका व्रत है, वे किसी को विमुख नहीं करते।

पिताजी कहते हैं "भोग और त्याग एक ही मन की दो जुँड़वीं मूर्तियाँ हैं। यह शरीर बाह्य आभूषण मात्र है। जितना जीव का ईश्वर-भाव बलवान होता है उतना ही दोनों की अविच्छिन्न मंगलमूर्ति का उससे ज्ञान होता है।

ऐसा दिन शीघ्र ही आवेगा जब पिताजी के चरणों में बहुत से आर्त्त जीव परमार्थ लाभ की आशा से आयेंगे।[१]

---

१. १३४५ बंगाब्द के २४ वैशाख को देहरादून में पिताजी का महानिर्वाण हुआ।

अपनी बात

मेरे बन्धु, बान्धव, स्वजन, परिचित यहाँ तक कि अपरिचित के मन में भी मेरे वर्तमान जीवन के प्रति जिज्ञासा है, इस कारण बाध्य होकर मुझे अपने विषय में भी कुछ लिखना पड़ रहा है।

पहले यह बताना जरूरी है कि मैं माँ की इतनी भक्ति क्यों करता हूँ। इसका उत्तर मेरे पास नहीं है। लेकिन ऐसा प्रश्न होने पर कि 'मैं उनके चरणों से दूर हट सकता हूँ?' मैं चुप रह जाता। मेरे मन प्राण उनके चरण–आश्रय ही में पड़े रहते हैं। कभी कभी तो ऐसा लगता है कि उनकी चिंता स्थगित होने से मेरा जीवन भी समाप्त हो जायेगा। मुझे किसी परमार्थ की सिद्धि की इच्छा नहीं है। यदि कोई ऐसा कहे कि मैं रोगमुक्त हो उनका शरणागत हो गया हूँ, तो यह भूल है। उनकी दिव्य विभूतियों के आकर्षण ने मुझे उनके पास खींचा है, यह भी नहीं है। उनके विश्वव्यापी वात्सल्य ने स्वतः स्फुरित होकर मुझको हर प्रकार से असहाय की भाँति बाँध लिया है। उनके स्नेह की छाया को छोड़कर दूर जाने की न तो मेरी इच्छा है, न सामर्थ्य ही है।

एक बात और कह सकता हूँ कि उनके दोनों चरण–कमल जो मुझे अखण्ड आनन्द प्रदान करते हैं उसका एक अंश भी पार्थिव या अपार्थिव कोई भी वस्तु नहीं दे सकती और न साधन–भजन ही दे सकता है। यही मेरा बन्धन है और इस बन्धन को ही मैं परम मुक्ति मानता हूँ।

माँ कहती हैं, "मैं ही तुझे संसार की सीमा से बाहर लायी हूँ, तेरे जैसे विलासप्रिय को संसार से खींचना सहज न था।" मैं भी अच्छी तरह समझता हूँ कि मेरे मन की जो विक्षिप्त दशा थी उनकी अहैतुकी करुणा के बिना उनके आश्रय में पड़ा रहना मेरे लिए असम्भव ही था। माँ ने और भी कहा, "यह कोई नहीं समझता कि संसार के घेरे में पड़े रहने से बहुत पहले तू निधन को प्राप्त हो जाता"। माँ की इस अमोघ वाणी की सत्यता मैं सदा अन्तर में अनुभव करता हूँ।

मेरी स्त्री मेरे साधन-पथ में अनुकूल ही रही। वह जन्म ही से खूब अभिमानिनी है। धनवान सम्भ्रान्त परिवार की प्रथम संतान होने के कारण उनमें आत्ममर्यादा और कुलीनता का भाव नस-नस में भरा है। आठ नौ वर्ष की आयु में जब मैंने पहले पहल उन्हें देखा था तब इनकी निर्मल सरलता का जो चित्र मेरी आँखों में खिंचा था वह आज भी वर्तमान है।

माँ से जब मेरा प्रथम साक्षात्कार हुआ तब मातृचरणों की पूजा में वे मेरी प्रधान सहायिका थीं। मेरे वर्तमान जीवन के प्रारम्भ में वे माँ की सब भाँति श्रद्धा करती थीं किन्तु आजकल जन्मगत अभिमान के वशीभूत हो उनका भाव-विद्रोह जग गया है, स्वयम् आड़ में पड़ी रहकर वह अपना प्रारब्ध क्षय कर रही हैं।

मैं जितना ही माँ का शरणागत होता गया, एवं संसार और समाज के प्रति उदासीन होने लगा, इतना वैराग्य मेरी स्त्री को न सुहाया। वे एक दिन बोलीं, क्या घर में बैठ कर धर्म नहीं हो सकता? यों ही दौड़-भाग करना शरीर के ऊपर अत्याचार

करना, बच्चों की ओर ध्यान न देना, ऐसा धर्म पालन न करना ही अच्छा है।" मैं उन्हें समझाने की चेष्टा करता कि संसार की शृंखला तोड़ने की चेष्टा करते ही मनुष्य संसार की दृष्टि में उच्छृंखल प्रतीत होता है। वास्तव में कुछ उच्छृशृंखल हुए बिना संसार के भोगों से दूर रहकर मनुष्य का धर्मपथ की ओर जाना सहज नहीं है।

किन्तु मेरे इस प्रबोध-वाक्य का कुछ भी फल न हुआ। ११ अथवा १२ वर्ष पहले एक दिन वे सहसा कह उठीं "आपका जिस प्रकार का भाव देख रही हूँ, आपका बाहर या घर में रहना दोनों हमारे लिए एक ही है।" मैंने हँसते-हँसते कहा "यदि संन्यासी होकर कहीं दूर चला जाऊँ तो तुम लोगों को कुछ कष्ट नहीं होगा ?" उन्होंने अभिमान से कहा, "कदापि नहीं।" लड़का लड़की सब छोटे थे वे भी वहीं उपस्थित थे। मैंने एक नोटबुक में यह लिख कर रख लिया। ऐसी बातें हम लोगों में बहुत बार हुआ करती थीं। निरंजन उन्हें विशेष रूप से समझाने की चेष्टा करते किन्तु वे किसी तरह भी शान्त न होतीं।

इसके बाद मुझे वही असाध्य बीमारी हुई। उन्होंने दैवी सहिष्णुता और धैर्य के साथ अपनी जरा भी परवाह न करते हुए बहुत ही स्थिर मन से मेरी सेवा की। प्रतिकूल घटनाओं का आघात सहते हुए ऐसी एकनिष्ठ इच्छा-शक्ति को जाग्रत रखना बहुत कम ही दिखाई पड़ता है।

मेरे अच्छे होने से कुछ पहले उनका अत्यन्त प्रिय छोटा भाई मृत्यु को प्राप्त हुआ। उससे उनका मन एकदम निर्जीव सा हो गया। इसके बाद वे प्रत्येक विषय में निरुत्साही हो गयीं। श्री

श्री माँ के प्रति मेरा प्रबल आकर्षण उन्हें पहले से ही नहीं रुचता था, अब इस विषय में वे बिल्कुल विरुद्ध हो गयीं, बच्चे भी उन्हीं के रङ्ग में रङ्ग गये ।

उन लोगों को ऐसा लगने लगा मानो मैं उनसे दूर होता चला जा रहा हूँ। वे ही नहीं वरन् मेरे और सब कुटुम्बी भी मेरे इस आचरण को अनुचित समझने लगे, यहाँ तक कि मेरे बड़े भाई सतीशचन्द्र राय जिनके साथ मेरा बहुत प्यार था, जो सर्वदा धर्म, शास्त्र, नीति की मर्यादा की रक्षा करते थे उन्होंने भी एक दिन लिख भेजा "तुम किस ओर जा रहे हो समझ में नहीं आता, स्त्रियों का आश्रय ले कोई भी कभी परमार्थ लाभ कर सका, ऐसा किसी इतिहास में नहीं पढ़ा गया है, मुझे डर है कि तुम्हारी त्रिशंकु की तरह अवस्था न हो जाय ।"

मैंने देखा कि जब स्वयम् अपनी अवस्था नहीं समझ पाता तो दूसरों को कैसे समझा सकता हूँ। इसी कारण माँ के विषय में पत्नी से बातें करना प्रायः बन्द सा हो गया । फल यह हुआ कि सभी और विशेष कर मेरी पत्नी एकदम मर्माहत होकर मेरे बिल्कुल विरुद्ध हो गयीं और मेरे आचरण को अनुचित कहने में तनिक भी संकुचित न हुईं ।

लौकिक धर्म और समाज के सम्मुख पति–पत्नी का बन्धन अटूट है, यहाँ तक कि ऐसी जनश्रुति है कि स्वर्ग जाने पर भी एक के लिए दूसरे को प्रतीक्षा करनी पड़ती है । इस कारण ऐसे अटूट बन्धन में शिथिलता आने पर मन में तूफान सा उठना खूब ही स्वाभाविक है । मैं चुपचाप सब विरोधों को सहता हुआ माँ से

प्रार्थना करता, "माँ इन लोगों को सद्‌बुद्धि दो, शान्ति दो।" इन लोगों के ऐसे व्यवहार से मैं संसार से दूर हटता गया।

संसार को मिथ्या कहकर धर्म-पथ की ओर अग्रसर होना मेरा लक्ष्य न था। मेरी शिक्षा भी ऐसी थी कि जब तक मैं सत्य हूँ तब तक सब सत्य है। फिर भी जिस मूल सत्ता के आधार पर समस्त प्राणियों के सत्ता का प्रकाश है उस ईश्वरी चेतना में प्रतिष्ठित रहने के लिए संसार के प्रति आकर्षण कम होना उमर अधिक होने पर स्वाभाविक ही है, क्योंकि ईश्वर चिन्ता रूप औषधि के साथ-साथ एकान्तवास रूप पथ्य भी अत्यन्त आवश्यक है। जीवन भर संसार में फँसे रहना तो किसी शास्त्र में भी नहीं लिखा है।

मैं अपनी स्त्री की बात जब सोचता, तब मुझे लगता कि उसकी सब प्रतिकूल चेष्टाओं के मूल में उसकी पति पुत्र के प्रति भावी मंगल कामना थी। उन्होंने व्यावहारिक दृष्टि से श्री श्री माँ के सङ्ग का वर्जन किया है सही, किन्तु वे प्रत्येक विचार और कार्य में विरुद्धभाव से श्री श्री माँ की ही उग्र साधना कर रही हैं।

'श्री श्री माँ की शुभ इच्छा ही जययुक्त हो।'

श्री श्री माँ कहती हैं

(१) एक छोटा बच्चा जिस प्रकार स्कूल जाता है उसी भाव से गुरु के पास जाओ। परमार्थ की ओर जितना खाली होकर जाओगे भगवान् उतना ही भर देंगे। सब उनको देने पर तुम्हारा भी सब—अन्तर और बाहर—पूर्ण कर देंगे।

(२) जीवन में अनेक बुद्धि के खेल खेले हैं। हार-जीत जो होने को थी हो गयी। अब निराश्रित की तरह उनकी ओर देख और उनको समर्पित हो जा। फिर तुझे और कुछ सोचना न पड़ेगा।

(३) जीव की देह की ओर लक्ष्य न रखकर आत्मा की ओर लक्ष्य रखकर जीव-सेवा कर, तब प्रत्यक्ष ही देखेगा कि सेवा, सेव्य और सेवक उन्हीं के भिन्न-भिन्न रूपों का प्रकाश है।

(४) मैं तुम्हें प्यार करती हूँ अभी तो तुम भी प्यार करते हो; मैं जितना प्यार करती हूँ उसका एक अंश भी तुम लोग मुझे प्यार नहीं करते, यह तुम लोग नहीं समझते।

(५) भोग मात्र ही खाद्य है। इसीलिए होशियार रहना, ये खाद्य तुम्हें न खा जायें तुम हमेशा खाद्य को आत्माधीन रखने की चेष्टा करो।

(६) मेरी बात में विश्वास रख कर जप करो, निश्चय ही फल पाओगे।

(७) शुभ कर्म करते-करते अशुभ संस्कार जल कर भस्म हो जाते हैं, शुभ संस्कार बढ़ते ही चलते हैं । क्रमानुसार वे भी लुप्त हो जाते हैं । जिस प्रकार लकड़ी की आग उत्पन्न होती है, और उसी आग में लकड़ी जल जाती है और अन्त में अग्नि भी समाप्त हो जाती है ।

(८) प्रतिदिन निर्दिष्ट समय भगवान् के निकट यह प्रार्थना करो, "हे अन्तर्यामी देवता प्रत्येक प्राणी के हृदय में तुम अपने प्रति भक्ति और अनुराग जगाओ । सांसारिक चिन्ता में दुःखी मन-बुद्धि, चित्त और अहंकार को पुकार कर कहो 'देखो तुम लोगों के प्रभु के पास जा रहा हूँ, तुम रास्ता छोड़ दो ।" यह कह कर निश्चल मन से आसन पर बैठो ।

(९) हर समय जितना कर सको उतना मन को खेल में लगाये रखो, उन्हीं के खेल में उनका नाम, रूप, गुण, वाणी, महिमा कुछ भी लिये हो जितना अधिक समय तक हो सके, उसी खेल में मस्त होने की चेष्टा करो । हो नहीं रहा, हुआ नहीं या होगा नहीं इस भाव के वश होकर मत बैठो । हमेशा याद रखो कि 'हो नहीं रहा है' यह मेरी ही गलती है । अपने को जीतना है ऐसा कह अपने द्वारा अपने को जीतो । 'मैं' पर जोर दो । 'मैं' उन्हें बुलाऊँगा, उनके साथ 'मैं' खेलूँगा, उनकी पूजा भी 'मैं' करूँगा ।

(१०) मालिक के साथ हर समय सम्बन्ध योग रखने की चेष्टा करो । शिशु सो रहा है और माँ-बाप कुछ खबर न लें यह सर्वथा असम्भव है । जहाँ भी रहो घर हो, आफिस हो भगवान् को स्मरण कर सकते हो । वन जंगल में जाने की कोई आवश्यकता नहीं है ।

(११) भगवान् के साथ तुम्हारा सम्बन्ध है। यदि उसे नहीं समझ सकते तो अन्य कोई सम्बन्ध स्थापित करो, उन्हें पिता, माता, भाई, बहन जो इच्छा हो वही बनाओ। ऐसा करने से सुख पाओगे। उन्हें छोड़कर तो संसार में कुछ भी नहीं है।

(१२) किसी खाली कमरे में खड़े होकर आवाज करोगे तो उसकी प्रतिध्वनि होगी। उसी प्रकार मन को जितना खाली करोगे तुम्हारा स्वरूप आप ही प्रकाशित हो उठेगा। जिसे जैसा अच्छा लगे उसी भाव से उनको पुकारो, उनकी महिमा गाओ और उनमें अपनी कामनाएँ विलीन कर दो, वह अपने स्वरूप में दर्शन देंगे।

भाईजी की बारह वाणियाँ

श्री श्री माँ के भक्त यह बारह बातें हमेशा याद रखें—

(१) भगवान् या ईश्वर कहने से हमारी धारणा में जो सम्मुख आता है वही माँ का मूर्त प्रकाश है। उनका शरीर और क्रीड़ाकौतुक सभी अप्राकृतिक और असाधारण हैं—ऐसी बुद्धि से प्रतिष्ठित हो सब कर्म ध्यान और ज्ञान में उन्हें उपास्य देवी मान कर उनके चरण-कमलों को हृदय में स्थापित कर सकने पर परमार्थपथ में अन्य किसी आश्रय की आवश्यकता न होगी।

(२) देहधारी से ऊँचा न मान सकने पर उनकी उदारता, कर्तव्यपरायणता, प्रसन्नता, सौम्यता, समभाव आदि किसी एक गुण को आदर्श मान कर चलो।

(३) उनके हावभाव, बातें, हँसी-तमाशे, चलने-फिरने, खाने-पहनने आदि के साथ सौभाग्यवश किसी का संयोग हो तो साधारण बुद्धि से अपने को खो बैठना नहीं चाहिए वरन् सहिष्णुता के साथ उनके प्रत्येक कार्यकलाप के विशेषत्व तथा माधुर्य की हृदय में उपलब्धि करनी चाहिये।

(४) वे स्वाधीन हैं, इच्छा व अनिच्छा बद्ध जीव का धर्म है। वे इच्छा से कुछ कहतीं या बोलतीं नहीं हैं। हम लोगों का जैसा प्रयोजन है उसके अनुसार उनमें महती इच्छा का स्फुरण होता है।

(५) उनके द्वारा अथवा उनकी दृष्टि के द्वारा हम लोगों की बुद्धि-विवेचना के अनुकूल या प्रतिकूल जो कुछ घटे उसमें कुछ निगूढ़ रहस्य छिपा है ऐसा दृढ़ विश्वास रखकर बिना प्रतिवाद शान्त मन से सब ग्रहण करना चाहिये ।

(६) किसी को सुकृति के फलस्वरूप यदि माँ उसे आदेश दें तो बिना कुछ सोचे, बिना दुविधा किये उसका प्रतिपालन करना चाहिये, कभी भूल से भी माँ की इच्छा और अपनी इच्छा मिलाने की चेष्टा न करो ।

(७) उनको उन्हीं के भाव में (अपने को चाहे अच्छा लगे या बुरा) जितना रख सको उसी में जगत् का मंगल है । कभी इसके विपरित न हो इसका ध्यान रखो । उनके किसी भी काम में, यहाँ तक कि शरीर रक्षा सम्बन्धी सुविधाओं में भी हमारी बुद्धिविवेचना व्यर्थ है, उनका संकेत पाने पर उसका प्रतिपालन करो अन्यथा चुपचाप देखते-सुनते रहना ही अच्छा है ।

(८) भगवान् की चिन्ता करो, यही भिक्षा वह सबसे माँगती हैं । उनकी सेवादि की अपेक्षा, साधन-भजन कर उनका कृपा-लाभ करना सहज है ।

(९) उनके पास आने पर चरण स्पर्श की इच्छा जागे तो उस समय चित्त दर्पण की भाँति स्वच्छ होना आवश्यक है । जो जितना भूखा, प्यासा, श्रद्धाशील तथा शरणागत हो सकेगा उतना ही वह उनके अमृत-स्पर्श से तृप्ति कर सकेगा ।

(१०) उनके निकट कुछ भेद-भाव नहीं है, अपना भाव ही उनके आकर्षण या विकर्षण का सूत्र है । जैसी जिसकी भावना

वैसी उसकी सिद्धि। उनके पास जो जितना शून्य मन और शरीर लेकर जायगा वह उतने सहज में पूर्णता की ओर अग्रसर होगा।

(११) उनके श्रीमुख की कोई भी बात व्यर्थ नहीं होती एवं उनकी स्मृति काल के बन्धन के अतीत है, यह स्मरण रखना आवश्यक है।

(१२) प्रारब्ध को मिटाने के लिए उत्कट तपस्या की आवश्यकता है। शोक-दुःख आदि हमारे प्रारब्ध में अवश्यम्भावी फल हैं—यह मन में निश्चय कर हर समय सुख-दुःख में उनकी कृपादृष्टि पर विश्वास कर चलना चाहिये।